मैं इनसे मिली — [खण्ड—2]

(विभिन्न क्षेत्रों के विशिष्ट व्यक्ति)

आशारानी व्होरा

कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर



[illegible] : [illegible], 1985/मूल्य : [illegible]/ प्रकाशक : [illegible],
[illegible] / [illegible]
[illegible]

MEN INSE MILI—[Part-II] Asha Rani Vhora

आमुख

समाजसेवा, लेखन और पत्रकारिता के अपने जीवन में मुझे विभिन्न क्षेत्रों के अनेक विशिष्ट व्यक्तियों--राजनेता, विद्वान, साहित्यकार, अधिकारी, सामाजिक कार्यकर्त्ता, वकील, जज, चिकित्सक, कलाकार स्त्री-पुरुषों से मिलने का मौका मिला। कुछ को अपने कामकाज के सिलसिले में जाना-परखा, कुछ को मैंने प्रयत्न से खोजा (जैसे महिला-उपलब्धियों के क्षेत्र में लेखन के लिए शोध-कार्य करते हुए 'विश्वविख्यात महिलाओं', 'नोबल पुरस्कार विजेता महिलाओं' भारत की 'अग्रणी महिलाओं', 'भारतसेवी विदेशी नारियों', 'स्वतंत्रता सेनानी' व 'क्रांतिकारी नारियों', 'कलाकार नारियों', 'साहसी नारियों', आदि की खोज)। कुछ विद्वान नेता, वरिष्ठ साहित्यकार, सुप्रसिद्ध चिकित्सक आदि निकट परिचितों के दायरे में आ कर बार-बार की मुलाकातों में धीरे धीरे अपना प्रभाव गहरा करते गए, तो कुछ एक बार की भेंट में ही अपनी वरिष्ठता और विशिष्टता की छाप छोड़ गए।

इन कुछ सौ व्यक्तियों में से पचास-साठ नामों का चुनाव आसान काम न था। सामयिक संदर्भ में लिए गए पत्रकारीय साक्षात्कारों का स्थायी महत्व नहीं होता, अतः पुस्तक के लिए उनकी उपयोगिता संदिग्ध होती है। फिर भी किन्हीं विशिष्ट क्षेत्रों या संस्थाओं से जुड़े कुछ नाम ऐसे होते हैं, जिनकी प्रतिभा, लोकप्रियता, साहित्यिक उपलब्धि, कोई साहसिक सिद्धी, कोई असाधारण क्षमता, कोई विशिष्ट पहचान अपने साथ अनेक जानकारियां और प्रेरणाएं समेटे, सार्वजनीन रुचि का विषय बन जाती है।

ऐसे ही कुछ प्रेरक व्यक्तित्व चुनकर (जीवित व्यक्तियों से नए संदर्भ में ताजा भेंट ले कर, पुनर्लेखन के साथ) इस संकलन में संजोए गए हैं। चुने गए नाम भी इतने थे कि किसे छोड़ूँ, किसे लूँ—की दुविधा से पार पाना अपने आप में एक अलग समस्या थी। यहां यह भी स्पष्ट कर दूं कि इस संकलन के 'भाग एक' में अनेक अग्रणी महिला-नाम मेरी दूसरी पुस्तकों में आ जाने के कारण छोड़ देने पड़े थे तो इस 'भाग दो' के साथ कुछ अन्य

मजबूरियां आ जुड़ी थीं। फिर पुस्तक के आकार और प्रकाशन की भी अपनी सीमाएं होती हैं। अतः पुस्तक को दो खंडों में विभाजित करके भी जो संभव हो सका, उसी से संतोष करना पड़ा।

प्रस्तुत है, प्रख्यात साहित्यकारों और विभिन्न क्षेत्रों के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को लेकर तैयार किया गया, इस पुस्तक का द्वितीय खंड—सम्मिलित सभी महानुभावों के सहयोग के प्रति आभार सहित।

आशारानी व्होरा



अनुक्रमणिका

खंड–1

साहित्य क्षेत्र

अक्षय प्रेरणा-स्रोत

दादा माखनलाल चतुर्वेदी



एक ऐतिहासिक संध्या और यादों के ये झनझनाते तार।

महान आत्माओं के आवागमन का समय भी अपना कुछ निश्चित अर्थ रखता है शायद। 30 जनवरी की एक संध्या इसीलिए एक ऐतिहासिक संध्या बन गयी है, जिसमें एक साथ दो महामानवों के इस जगत से प्रस्थान की यादें घुलमिल कर झिलमिलाने लगी हैं। सन् 1948 की 30 जनवरी की शाम अपनी छोटी बहन की शादी में बजती ढोलक की थापों के बीच महात्मा गांधी को गोली लगने की सूचना ने जैसे अकस्मात् आघात का झटका दिया था, वैसा ही एक झटका एक अन्य 30 जनवरी 1968 को शाम दादा माखनलाल चतुर्वेदी के निधन के समाचार से मुझे लगा था। दो दो अलग-अलग समय पर घटी घटनाओं में कैसा साम्य? एक भारतीय आत्मा' के नाम से विख्यात श्री माखनलाल चतुर्वेदी को मैं एक महाकवि से अधिक एक महामानव के रूप में ही अधिक जानती-पहचानती हूँ।

जब, 'मुझे तोड़ लेना बनमाली.......' और कोकिल बोलो तो' कविताएं पढ़ी थी, तब उन्हें नहीं पढ़ा था, अन्य छात्राओं की तरह ही इन पंक्तियों को रटा था और गुनगुनाया था। फिर भी प्रभाव कुछ इतना गहरा पड़ा था कि उस भारतीय आत्मा के दर्शनों की इच्छा यदाकदा जाग उठती थी। बहुत दिनों बाद खंडवा के समीप अपने महू निवास के समय मेरी यह इच्छा पूरी हुई। तब तक मैंने उनकी कविताएं ही पढ़ी थीं, कोई काव्य-संग्रह नहीं। हां, उन्हें पढ़ने के बाद 'चिन्तक की लाचारी' और 'समय के पांव' पढ़ने से स्वयं को रोक नहीं सकी थी। पर 'रचना शीर्षक ढूंढ़ती है'

और 'साहित्य के चिन्तक की लाचारी' के भाषणनुमा साहित्यिक निबन्धों को पढ़ने से ऐसा नही लगा था कि उनके बारे में कोई नयी जानकारी मिली हो। उनके संपर्क मे आने वाला हर व्यक्ति उनके काव्यमय जीवन से परिचित है।

सचमुच जीवन को वह काव्य की और जीवन की संपूर्णता मे जीते थे। उनके लिए काव्य से अलग जीवन का कोई अर्थ न था और न जीवन से अलग काव्य का ही। इसीलिए वह सैनिक, साहित्यकार, कलाकार, सद्-गृहस्थ, क्रांतिकारी, महामानव, सभी कुछ एक साथ थे। जीवन को टुकड़ों मे बांट कर जीना या कविता से अलग करके जीना उन्हे सह्य न था, अन्यथा रुग्ण शरीर और सैनिक की ओजस्विता मे क्या साम्य है ? साधनहीनता और संतोष, अभाव और आस्था को मिला कर जीना क्या सरल है ? पर वे तो एक सच्चे साधक थे। उन्होने अपने जीवन मे, रहन-सहन में बातचीत मे, लेखन मे इन सभी विरोधाभासो को साध कर एक साथ अपना लिया था।

महू से खडवा अक्सर जाना होता था और हर बार दादा से मिलना भी जैसे एक जरूरी क्रम बन गया था। वह भी जैसे हर आगन्तुक की राह देखते होते। लगभग पन्द्रह वर्षो मे अनेक बार संपर्क मे आने पर मैने दादा का जो रूप देखा, वह न उनकी क्रातिकारी ओजस्विनी कविताओं से मिलता था, न उनके आस्थामय गीतों से। हर बार देख कर आती, एक क्षीण जर्जर शरीर, हाँफ कर रुकती सी वाणी, विशेष सुविधाओं— साधनों से हीन घर और अभावों-चिन्ताओं का बोझ। पर उन्ही दिनो उनकी लिखी कविताएं छप रही होती..................

पंख फुदकते, चोंच मटकती, कूद-कूद बल खाती है वह,
जीने के जतर-मंतर पागलनी सी, समझाती है वह।
पल पल पर वह खेल रही है, कितनी मस्ती भर लाती है,
बिजली के खंभे पर बैठी चिड़िया ठिनक-ठिनक कर गाती है।

तो यह बच्चों-सा क्रीड़ामय सारल्य और आस्था का स्वर समझने के लिए उनकी और कविताएं टटोलनी पड़ती। तभी कहीं छप जाता :

तूने विष के घूंट पी डाले हैं
अंजुरी भर अंधियारा यह थोड़ा और।

और जिज्ञासु को उत्तर मिल जाता। अंतिम भेंट में जब दादा न ठीक से देख पाते थे, न बोल सकते थे, उनके रात-दिन परेशानी में बीतते थे। थोड़ा उठने-बोलने पर उनकी दशा गंभीर हो जाती थी। तब भी पूछती हूं, 'दादा कैसे हैं ?' लेकिन क्या मजाल कि कष्ट या रोग की कोई शिकायत कर जायें या कहें कि ऐसे जीवन से तंग आ गया हूं। संक्षिप्त-सा उत्तर मिलता है, "ठीक हूं। पढ नहीं सकता तो सुन लेता हूं।"............"लेकिन लेखन ?"........."हां, वह भी श्रीकांत (जोशी) की मदद से थोड़ा चल ही रहा है। चस्का कहीं छुटता है ?" और इसके साथ ही बुझी-बुझी आंखों में भी सृजन के संतोष की ज्योति फूट पड़ती थी।

लगातार सालों से बिस्तर पर। सिरहाने दवाइयां—पेटखराबी की, कब्ज की, दिल-धड़कन की। साथ ही एक मेज पर पुस्तकें और पत्रिकाएं। बगलगीर होते बच्चे। मुलाकाती साहित्यकारों, भक्तों और पाठकों का तांता, जिनके लिए कोई विशेष समय निर्धारित नहीं। अगर दादा जग रहे हैं, या अधिक कष्ट में नहीं हैं, तो कोई भी कभी भी उनसे मिल सकता है। उनकी सबसे छोटी भाभी बृजलता जी से पूछती हूं कि इस स्थिति में कब से हैं ? तो वह बताती हैं, "सन् 1939 में मेरा विवाह हुआ था। जब से आई हूं, यही क्रम देख रही हूं। सुबह 4 बजे उठ जाना, पढ़ना-लिखना। फिर प्रभाती सुनना। बच्चों से मिलना। फिर मुलाकाती। तब से मैं इन्हें एक समय ही खाते देख रही हूं। सुबह आठ बजे दूध, दोपहर को हल्का परहेजी खाना, रात को फिर दूध। इसे भी पचाने के लिए दवाए लेनी पड़ती है। पर काम नियमित चलाते रहे हैं। यों रात को प्रायः नियम से दस-साढ़े दस बजे सो जाते हैं। पर कोई साहित्यिक कार्य हो तो नियम में व्यवधान भी पड़ता और बीमार भी पडते। बीमारी के कारण प्रेस छोड़े कई साल हो गये, पर अभी भी 'कर्मवीर' के लिए लिखाते हैं। बहुत कुछ पढते-सुनते हैं। सभी से मिलते हैं। खंडवा, इटारसी से गुजरने वाले प्रायः सभी साहित्यकार मिलने के लिए आते हैं। हमारे यहां वे गरीबी-आतिथ्य स्वीकार कर भी यहा ठहर कर खुश होते हैं और दादा उनसे मिल कर खुश होते हैं। इसके अतिरिक्त भी दादा परिवार की सभी बातो मे रुचि लेते है। बच्चों की पढ़ाई-लिखाई हो, या शादी-ब्याह का लेन-देन, उनके पास सभी बातों के लिए समय है और हम लोग हर बात मे उनकी सम्मति का आदर करते हैं। दादा बच्चों

पर खूब प्यार लुटाते हैं, उनकी छोटी से छोटी बात का ध्यान रखते हैं, उनके साथ खेलते हैं और बच्चे भी उनसे पूछे बिना कोई काम नही करते। शादी-ब्याह पर रीति-रिवाज को लेकर कई बातों के लिए उन्हें मनाना आसान न होता, पर दादा ने सदा रिवाज ही तोड़े हैं, रिश्तेदारों के दिल नही।"

ऐसे दादा की तुलना एक वट वृक्ष से ही की जा सकती है, जिसके नीचे परिवार के प्रत्येक सदस्य को ही नहीं, न जाने कितने नये लेखकों-साहित्यकारों को भी प्रश्रय मिला। 4 अप्रेल, 1889 को होशंगाबाद के बाबई गाव में पं० नदलाल चतुर्वेदी के घर जन्मे माखनलाल जी तीन बहनों व चार भाइयो में सबसे बडे थे। मिडिल परीक्षा देने जबलपुर गए तो वहां क्रांतिकारियों के संपर्क में आए और उनके जीवन की दिशा निर्धारित हो गई। देश की स्वाधीनता जीवन लक्ष्य बन गया, जिससे फिर वह कभी, किसी सकट, अभाव में पीछे नहीं हटे। चौदह वर्ष की उम्र में उनका विवाह हुआ था। पन्द्रह की उम्र से ही उन्हे नौकरी करनी पड़ी थी व चौबीस वर्ष की भरी जवानी में वह विधुर हो गए थे। उनके अपना कोई बच्चा न था। फिर भी उन्होंने दोबारा विवाह नही किया। अपने भाइयों के बच्चों को ही अपना बच्चा माना। भाइयो के सयुक्त परिवार के मुखिया के नाते पारिवारिक जिम्मेदारियाँ ओढ़ी और अपना निजी जीवन देश को व साहित्य को अर्पित कर दिया। परिवार की तरह साहित्य क्षेत्र में भी न जाने कितने लोगों को उन्होंने सहारा दिया और उन्हे आगे बढाया। प्रेरणा का उनके पास कभी न सूखने वाला एक ऐसा स्रोत था, जिससे सपर्क मे आने वाला हर व्यक्ति शक्ति भर कुछ न कुछ पाने का अधिकारी था। यही नही, हर बार मिलने के बाद वह स्वयं को पहले से कुछ ऊंचा उठा हुआ भी पाता था।

वर्षों तक रोगी जेठ की सेवा करने वाली पराई लड़की (उनकी छोटी भाभी बृजलता) के मुह से ऐसी श्रद्धा और अपनत्व भरी बातें सुन कर इस पर सहसा विश्वास नहीं होता। पर मैंने स्वयं उनके घर को पारिवारिक सद्भावना भरे सबके मंगल मिलन-स्थल और साहित्यकारों की तीर्थशाला के रूप में ही देखा है। बड़े से बडा साहित्यकार ही नहीं, राजनेता भी राह से गुजरते समय खडवा उतर कर दादा के दर्शन जरूर कर लेता था। डा० राजेन्द्र प्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, पुरुषोत्तमदास टंडन जैसी विभूतियां भी

इसका अपवाद न थीं। सभी उनके आगे नतमस्तक थे। बुलंदशहर की कवियत्री कुसुम सिन्हा मुझे एक बार खंडवा में उनके घर पर ही मिली थी। दादा के निधन पर कुसुम ने मुझे पत्र लिखा, "मैं तो हर वर्ष गर्मी की छुट्टियों में एक महीना दादा के घर ऐसे रह कर आती थी जैसे कोई बहू अपने मायके में। अब लगता है, खंडवा अपने लिए कहीं है ही नहीं।" मैं खंडवा जाने पर अपनी पुरानी मित्र श्रीमती शीला प्रभाकर के घर ही ठहरती थी इसलिए दादा के घर ठहरने का वैसा अनुभव तो मेरे पास नहीं है, पर हर बार मिलने पर वैसा ही अपनत्व पाने की अधिकारिणी मैं भी रही। अपने एक प्रकाश्य कविता-संग्रह पर दादा की सम्मति और उसकी भूमिका की स्वीकृति पाने के सिलसिले में मुझे उनसे जीवन का जो संदेश मिला, उसने जिस तरह मेरे जीवन की दिशा बदलने में योग दिया, वह अनुभव तो मेरे लिए एक अमूल्य निधि ही बन गया है।

लगभग छब्बीस वर्ष पूर्व की यह घटना मुझे कभी नहीं भूलती। मैंने अपने गीत-संग्रह की पांडुलिपि उन्हें दिखाई और भूमिका लिखने के लिए उनसे प्रार्थना की। तब उस संग्रह का नाम मैंने रखा था—'आंसू का आभार'। और उसकी लय थी—पीड़ामय विरक्ति। दादा ने गीत देखे। कुछ पंक्तियां सुधरवाईं। कुछ गुनगुनाईं। फिर कहा, "गीत ये छपने चाहिए। भूमिका मैं अवश्य लिखूंगा, पर प्रकाशित 'इसी' पाने के बाद, इस पर नहीं। कहीं तुम भूमिका लिखवा कर उसे दूसरे संग्रह (अपने पुराने गीतों) के साथ छपवा लो तो?" मैं उनके मुंह की तरफ देखती रह गयी—कितनी दूर-दर्शिता। कुछ कहूं कि इस के पूर्व पिता की-सी स्नेहसिक्त वाणी में बोले, "गीत ठीक हैं। पर बेटी, एक बात कहूं.........अच्छा बताओ, तुम्हारे कोई बच्चा है?" मैं अवाक् कि इस बात का गीतों से क्या संबंध है?

फिर मेरे हां कहने पर एक अर्थभरी दृष्टि मेरे चेहरे पर जमाते हुए धीरे-धीरे कहने लगे, "मैं यह कहना चाहता हूं कि.........नारी, जो मां है, उसके अन्तर में ऐसी घनीभूत शून्यता नहीं होनी चाहिए।" मेरे मन मस्तिष्क में यह पंक्ति 'नारी जो मा है..........' न जाने कितने गहरे पैठ गई थी कि उसके बाद मेरे भीतर से निरंतर उसकी अनुगूंज उठती रही—दिनों, महीनों नहीं, सालों-सालों। और मां के रूप में मैं एक बार फिर जीवित हो गई। उत्साह से भर उठी। उसके बाद तो कर्मठता ही जीवन-

मंत्र हो गया और कार्य ही कार्य जीवनचर्या। कभी पीछे क्या, अपने आस पास ही देखने का अवकाश नही पाया। मेरे पूरे जीवन की दिशा ही बदल गई थी। महान व्यक्तियों की मामूली देन भी कितनी महान हो सकती है, यह इसका एक उदाहरण है।

माखनलालजी का ओज और सारल्य और बच्चों का-सा उत्साह अत तक बना रहा। सुना था, एक बार गंभीर अवस्था मे आपरेशन के लिए जाने से कुछ ही क्षण पूर्व उन्होंने अस्पताल के कमरे से मौसमी मार कर बाहर बरामदे मे बैठी बिल्ली पर निशाना साधा और फिर निशाना ठीक बैठने पर खिलखिला कर हँस पड़े, जैसे आने वाले कष्ट के लिए स्वयं को तैयार कर रहे हो या उसे तुच्छ समझ कर उसकी अवहेलना कर रहे हों। जीवन के कष्टों—अभावो को हल्के रूप में ग्रहण कर स्थिति मे आस्थावान बने रहने की उनकी यह व्यक्तित्व-साधना ही बीमारी के लम्बे वर्षों मे उनका सबल बनी रही। बिस्तर पर पड़े—पड़े भी वह साहित्य के हर उतार-चढ़ाव, हर गतिविधि और प्राय: हर लेखक—नये, पुराने की सृजन क्षमता से परिचित थे। पढ नही सकते थे, तो सुनते थे, बतियाते थे और हर बात पर अपनी सम्मति व्यक्त करते थे। उनका लेखन भी अंत तक किसी न किसी रूप मे चलता रहा। उन्हें न किसी से शिकायत थी, न स्वयं में हीनता या गर्व का भाव। कुंठा, अनास्था को तो उन्होंने किसी भी स्थिति मे पास नही फटकने दिया। पता नहीं, वे कैसे क्रांतिकारी या सैनिक थे कि अराष्ट्रीय और कुंठा, अनास्था, हताशा भरे नवलेखन से असहमत होने पर भी उन्होने कभी किसी पर आक्रोश प्रगट नही किया; न तब ही, जब उनकी उपेक्षा की गयी।

अनास्था से ही नही, उन्हे अरसिकता से भी चिढ थी। रसविहीन रचना को वह साहित्य नही मानते थे। ठीक उसी प्रकार जैसे प्रेम-विहीन जीवन को जीवन नही स्वीकारते थे। उनका विद्रोह केवल विदेशी शासन और सामाजिक रूढियों से ही नही था, उदासीनता और उदास भाव से भी था। साहित्यकार को न वह सामाजिक दायित्व से मुक्त कर सकते थे, न कविता को जीवन से पृथक्। जीवन को सपूर्णता मे ही जीना उन्हे प्रिय था और इसी रूप मे वह महान साहित्यकार से भी अधिक महामानव थे। जीवन भर सघर्षरत और अभावग्रस्त रह कर भी उन्होंने न अधिक की चाह की, न बड़े से बडे की परवाह। इसीलिए सम्मान और पुरस्कार उन तक चल कर गये, वे उनके लिए कही नही गये। 16 जनवरी, 1965 को जब

मध्यप्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र उन्हें 7500 रु. की थैली भेंट कर सम्मानित करने उनके घर तक चल कर गये थे तो सत्ता को साहित्य के सम्मान में झुकते देख सभी का मन गद्‌गद् हो उठा था। स्वतंत्र भारत में यह अपने ढंग की पहली घटना थी और माखनलाल चतुर्वेदी जी के साहित्यकार और व्यक्ति की अभूतपूर्व विजय। लगा, आस्था की अर्थवत्ता कभी समाप्त नहीं होगी। कुछ समय के लिए भले ही उसकी सार्थकता कम समझी जाए, यह स्थिति सदा नहीं चल सकती।

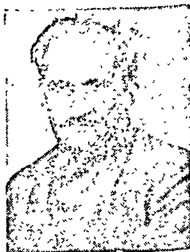
'हिम किरीटिनी' 'हिम तरंगिणी' 'वेणु लो, गूंजे धरा', 'साहित्य देवता', 'अमीर इरादे, गरीब इरादे', 'समय के पांव', 'कला का अनुवाद' उनकी कुछ अन्य प्रसिद्ध कृतियां हैं। इन कृतियों, 'शक्ति पूजा' व कर्मवीर' के संपादकत्व में निर्भीक लेखन और अप्रतिम ओजस्वी वक्ता के रूप में उनकी ख्याति रही, जो आज भी अमिट है, अमर है। अप्रैल 1983 में मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद् द्वारा उनकी समग्र ग्रंथावली का विमोचन समारोह धूमधाम से मनाया गया।

बुद्धि के अतिरेक के इस युग में भी माखनलाल जी के मानव की हरीतिमा कभी नहीं सूखी। वह सही मायने में कलाकार थे—लेखन में, पत्रकारिता में, नागरिकता में, बातचीत में, जीवनयापन में। शरीर से नाजुक, मन से भोले, हृदय से प्रेमिल, आत्मा से विह्वल, विचारों में क्रांतिकारी और संकल्प में शक्तिशाली। इतने स्वतंत्र और स्वाभिमानी कि किसी भी स्थिति में न झुके, न टूटे। पर साथ ही विनम्र भी। अवमानना न किसी मानव की, न किसी मानवीय संवेदना की। इसीलिए उनका संपूर्ण जीवन ही काव्यमय हो गया था और वे जीने की कला के एक सच्चे कलाकार बन गये थे।

महात्मा गांधी कवि नहीं थे, साहित्यकार नहीं थे, पर जीने की कला सिखाने वाले कलाकार के रूप में और एक महामानव के रूप में इन दोनों महापुरुषों में एक साम्य मैं देखती हूं। संवेदना और शाश्वत मूल्यों का साम्य। और मानवीय संवेदना किसी भी मानव, महामानव से भी ऊंची और शाश्वत चीज है, इसीलिए इनकी याद भी अमिट है। एक समान तिथि की एक ऐतिहासिक संध्या में संवेदनशील जीवन के काव्य की यह उभरती टूटती और फिर उभरती लय मुझे झिंझोड़ रही है। यादों के तार झनझना उठे हैं और मैं लय उनमें उतरती जा रही है। Δ

ऐतिहासिक उपन्यास-सम्राट

वृन्दावनलाल वर्मा



सन् 1957 की बात होगी। महू छावनी के निवासी 'रजतपट' के संपादक श्री कौशल प्रसाद जैन के यहा एक गोष्ठी मे मुझे भी सम्मिलित होने का अवसर मिला। श्री वृन्दावनलाल वर्मा उनके यहा अतिथि थे और उनके सम्मान में ही इस साहित्यिक गोष्ठी का आयोजन किया गया था। कुछ कविताएं हुईं, कुछ साहित्य-चर्चा, कुछ सिनेमा-चर्चा, क्योंकि 'रजतपट' सिनेमा पत्रिका थी और वर्मा जी के 'मृगनयनी' उपन्यास पर फिल्म बनने की चर्चाएं उन दिनो चल रही थी।

ये सब चर्चाए तो याद नही, पर इनके बाद वर्मा जी ने धाराप्रवाह जो अपने अनुभव सुनाए थे—ऐतिहासिक खंडहरों की यात्रा के, उन खडहरो से सूत्र पकड़कर इतिहास की भूली-बिसरी लोक-कहानिया खोजने के, शौकिया जंगलो मे भटकने के और उन जगलो-खंडहरो में भटकने वाले खूंखार, किन्तु सहृदय डाकुओ के। वे भुलाए नही भूलते। चम्बल के बीहड़ो और सुनसान खंडहरों की कहानियां सुनते-सुनते हमारे रोंगटे खड़े हो रहे थे। पर हमें उनमे वही आनन्द आ रहा था, जो नानी की गोद मे बैठे बालक को परियों, देवों और उड़नखटोलो की कहानियां सुनने में आता है। वे बोलते चले जा रहे थे। हम सुनते चले जा रहे थे। रात बीतती चली जा रही थी। पर कलकल छलछल करती नदी-सा वह प्रवाह रुकने का नाम ही नही ले रहा था। आधी रात बीत जाने पर ही हम लोग उठ कर अपने-अपने घर गये।

रास्ते भर मैं सोचती रही। शेष रात भर सोचती रही और बाद में भी अक्सर सोचती रही हूँ कि इस प्रवाह का स्रोत कहां था ? वर्मा जी की आयु उस समय 67-68 वर्ष रही होगी। दांत नकली। चेहरे पर, बालों पर वृद्धावस्था के पद-चिन्ह। पर शक्ति और उत्साह नवयुवकों को भी मात कर देने वाला। खेलकूद, शिकार, भ्रमण, ऐतिहासिक सामग्री की खोज में खतरनाक से खतरनाक और सुनसान से सुनसान स्थानों पर भटकना, गांवों और जंगलों की खाक छानना, सामग्री-सूत्रों की तलाश में और साहस के शौक की पूर्ति के लिए डाकुओं के छिपे अड्डों तक पहुँचना, उनसे दोस्ती, हिंस्र पशुओं से भिड़ना। फिर इस सब अनुभव को पूरी तन्मयता से लिखना और प्रवाह से भरकर सुनाना; सुनाते चले जाना। वार्धक्य उनके लिए कोई सीमा न था। कम से कम तब तक तो बिल्कुल ही न था।

इतिहास और साहस और शौर्य की कहानियां; इतनी सारी कहानियां यों ही नहीं लिखी गईं। उनके पीछे इतिहास के प्रामाणिक सूत्रों की खोज के अपने शौक का, साहस और शौर्य और रसिकता का यह प्रवाह ही रहा होगा, जो थमने का नाम अब भी न लेता था।

अब काल-गति से वह प्रवाह थम गया है। फरवरी 1969 में एक दिन सुबह रेडियो ने खबर दी, 'वर्मा जी नहीं रहे', तो जैसे कानों को विश्वास नहीं हुआ कि ऐसा लौह व्यक्तित्व भी मृत्यु के आगे अवश हो अपने हथियार डाल सकता है ? बाद के वर्षों में उनसे भेंट नहीं हुई थी, इसलिए नहीं जानती कि 75 से 80 वर्ष तक पहुँचते भी वार्धक्य उन पर हावी हुआ था कि नहीं ? पर जानती हूँ कि खाट उन्होंने नहीं पकड़ी थी। अंतिम दम तक उनके लेखन का क्रम जारी रहा, जब तक कि हृदय गति रुक कर हठात् उनसे उनकी लेखनी छीन नहीं ले गई।

खेलकूद, भ्रमण, संगीत, शिकार, इतिहास, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, नृतत्व शास्त्र और पुरातत्व के शौकीन वर्मा जी का लेखन उनके सारे शौकों को प्रतिबिंबित करता है। हिन्दी का कोई विरला पाठक ही उनसे अपरिचित होगा। सन् 1905 से उन्होंने लिखना शुरू किया था। पहले नाटक लिखे, फिर कहानियां। प्रारम्भिक कहानियां 1910 में 'सरस्वती' में छपी थीं। कुल सौ से ऊपर। 'झांसी की रानी', 'सत्रह सौ उन्नीस', 'राखी की लाज', 'हंस', 'मयूर', 'कचनार', 'मुसाहिबजू', 'माधव जी सिंधिया', 'अचल मेरा

कोई', 'कश्मीर का कांटा', 'गढ़कुंडार', 'लगन', 'प्रत्यागत', 'प्रेम की भेंट', 'कभी न कभी', 'विराटा की पद्मिनी', 'कुंडली चक्र', 'अहिल्या बाई', 'मृगनयनी', 'टूटे कांटे', 'बांस की फांक,' 'पीले हाथ', 'नीलकंठ', 'बीरबल', 'खिलौने की खोज कब तक', 'मंगल मोहन', 'कनेर', 'पूर्व की ओर', आदि लगभग 80 यशस्वी रचनाएं उनकी कीर्ति-गाथा विकीर्ण कर रही हैं।

वह 'पद्मभूषण' की उपाधि (सरकार की हिंदी विरोधी नीति के कारण *वर्मा जी ने इसे बाद में लौटा दिया था*) और 'सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार' से भी सम्मानित हो चुके थे।

9 जनवरी 1889 को मऊरानीपुर, जिला झांसी में जन्मे श्री वृन्दावन लाल वर्मा का नाम झांसी की तीन साहित्यिक विभूतियों—मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त, वृन्दावनलाल वर्मा—में से एक है, जिन्होंने झांसी को उसी तरह स्मरणीय बना दिया जैसे दादा माखनलाल चतुर्वेदी ने खंडवा को। अपनी रचनाओं के द्वारा उन्होंने झासी, कोणार्क, बुंदेलखंड और ग्वालियर को विश्व-इतिहास मे स्थायी महत्व प्रदान किया। 'झांसी की रानी' और 'मृगनयनी' की लाखों प्रतियां रूसी व चैक भाषा मे अनुदित हो कर बिक चुकी है। भारत का हर पुस्तकालय वर्मा जी की कृतियों से सुशोभित है। है। प्राय: हर प्रांत का बच्चा अपनी पाठ्यपुस्तक में उन्हे पढ़ता है। पर उन्होने अपनी इस ख्याति को कभी भुनाया नहीं। न वह अपने प्रदेश या केन्द्र के राजदरबार में कभी देखे गए। इसके बजाय उन्हें गांवों-जगलो मे प्रकृति के बीच रह कर अधिक सुख मिलता था। धरती, संस्कृति और प्रकृति से असीम प्यार के कारण वह 'पृथ्वीपुत्र' कहलाए।

एक सफल वकील के नाते मानव-मन का व्यापक अध्ययन उनके लेखन को समृद्ध करने मे सहायक ही हुआ होगा। इस पेशे ने उन्हे आर्थिक दुश्चिन्ता से भी मुक्त रखा। फिर भी सोचकर आश्चर्य होता है कि वकालत की व्यस्तता के बीच वह किस तह इतना घूम सके और किस तरह इतना लिख सके? दद्दा मैथिलीशरण गुप्त, मुंशी अजमेरी और अमर शहीद गणेश शकर विद्यार्थी वर्मा जी के निकट मित्र भी थे, प्रेरणा भी। विद्यार्थी जी जब भी चिरगाव जाते, जोर देकर मैथिलीशरण जी से कहते, "वर्मा जी को वकालत से हटवाओ, तभी वह अधिक साहित्य-सेवा कर सकेंगे।" पर वर्मा जी तो अपने कथा-लेखन के लिए अपने पेशे मे भी मनोविज्ञान जुटाते थे

और गांवों के जनजीवन से भी। सामग्री की खोज ही पर्याप्त नहीं होती, सफल लेखन के लिए उसमें डूबना भी होता है।

इस डूब के लिए उनके अनुसार, "संस्कृति की ऊपरी चमक दमक आपको नगरों में भी मिल सकती है। प्राचीन इतिहास से उसकी जानकारी भी जुटाई जा सकती है। पर उसका आधार तो आपको गांवो के जन जीवन से ही खोजना होगा। आधार के बिना स्थायित्व नहीं पाया जा सकता। साहित्य के स्थायी महत्व के लिए यह आधार या स्थायित्व आवश्यक है।.. लेखन के लिए नित नई प्रेरणा चाहिए तो कृत्रिमता से ऊब कर प्रकृति से शक्ति-संचय भी करना होगा। प्रकृति के बीच और गांवों-जंगलों के जनजीवन मे प्रेरणा का, ऊर्जा का अक्षय भंडार छिपा है। वहां की प्रचलित शब्द-संपदा भी हमारी सांस्कृतिक धमनियों मे स्वस्थ सशक्त रक्त-कणों सी है, जिससे बुनियादी रूप से हमारा जीवन संचालित होता है। नगरों में ही बसे रहने से हम इस अनुभव-संपदा से वंचित रह जाते है। इसलिए निर्जीव से रहते हैं।" भ्रमण, शिकार, अखाड़े-बाजी और मल्ल विद्या के व्यसनी श्री वृन्दावनलाल वर्मा शायद इसी स्रोत से इतनी ऊर्जा प्राप्त कर सके कि साहित्य के अखाड़े मे भी खम ठोंक कर खड़े रह सके। △

—o—

समग्र जीवन के साधक

काका साहब कालेलकर



अपनी पुस्तक 'भारतसेवी विदेशी नारियां' की भूमिका लिखवाने के लिए मुझे बार-बार काका साहब कालेलकर का नाम ही सूझता था। पर मन में एक संकोच था कि क्या इतनी उम्र में उन्हें कष्ट देना ठीक होगा ? या, क्या वह इसे स्वीकार कर पाएंगे ? फिर भी 'पूछ लेने में क्या हर्ज है', यह सोच कर मैंने उन्हें पत्र लिख दिया। स्वीकृति का तुरंत उत्तर पाकर मेरा उत्साह बढ़ा और मैं पांडुलिपि लिये उनके पास चल दी।

राजघाट कॉलोनी में उनके निवास स्थान पर पहुँच कर मैं एक बार फिर संकोच से भर उठी। काका साहब बिस्तर पर लेटे हल्के-हल्के कराह रहे थे। इसके पूर्व भी मैं उनसे दो बार मिल चुकी थी। पर इस बीच काफी समय बीत चुका था। अब ऐसी हालत में शायद ही उन्हें मेरे बारे में कोई पूर्व स्मृति हो। पर उनके पत्र से जाहिर था कि वे मुझे जानते हैं। इसलिए उनके सिरहाने पड़ी बच्चों वाली स्लेट-बत्ती उठा कर मैंने उस पर लिखा कि मैं कौन हूं और किस लिए आई हूं। काका साहब की श्रवण शक्ति जवाब दे चुकी थी, पर दृष्टि और स्मृति दोनों कायम थी। उन्होंने स्लेट उठा कर पढ़ा और चेहरे पर पहचान की रेखाएं लाकर मुस्कराए। पास बैठी महिला सरोज नानावती को मेरे बारे में बताया, उनसे डायरी में लिखवाया कि आज कौन-कौन उनसे मिलने आया, मुझे चाय-पानी पूछने का आदेश दिया और फिर बातचीत करने लगे।

पता चला, यह सरोज नानावती उनकी धर्म बेटी भी हैं, निजी सहायक भी। उन्हें देश-विदेश घुमाने व उनका रिकार्ड रखने से लेकर उनके लेखन–प्रकाशन में सहायता करने तक की सारी कार्य-व्यवस्था तो देखती ही रही हैं, इधर उनके स्वास्थ्य की देखभाल की जिम्मेदारी भी संभाल रही हैं और हर स्थिति में उन्हें सक्रिय रखने की भी। शायद तभी······पर ये जरिये या माध्यम समर्पित सेवक महानताओं को कभी जुटाने नहीं पड़े, अवसर उनके पास स्वयं ही आ जुटते रहे हैं। काका साहब के कार्य को आजीवन समर्पित नानावती बहन उनके बाद आज भी उनका छूटा कार्य पूरा कर रही हैं।

मैंने काका साहब को अपनी एक पुस्तक भेंट की तो प्रसन्न हुए और कहा, "मैं अवश्य पढ़ूंगा······हां, अभी भी पढता हूं, जब नही पढ़ पाता, तो सुनता हूं, इसके बिना मैं रह ही नही सकता।" सुना था, इसी तरह लेटे-लेटे वह अभी भी यात्राएं करते रहते हैं। पूछने पर बोले, "हां, लोग बुलाते हैं तो जाना पड़ता है। यहां भी हर समय लेटा नही रहता, सुबह-शाम टहलता भी हूं। नही तो जीना मुश्किल हो जाए।"

फिर वह उठ कर बैठ गए। पांडुलिपि को थोड़ा उलटा-पलटा और पहला नाम भगिनी निवेदिता पढ कर खुश हुए, "मैं तो इनका बहुत भक्त हूं। मीरा बेन का भी। इन सेवा-मूर्तियों की सेवा-भावना की मैं बहुत कद्र करता हूं। इसीलिए मैं इस पुस्तक की भूमिका लिखने के लिए तुरन्त तैयार हो गया। आपने इन पर लिखा, यह बहुत अच्छा काम किया। आप पांडुलिपि छोड़ जाइए, मैं इसे पढ़ूंगा।······हां, पूरी पढूंगा, तभी लिखूंगा, ऐसे ही नही लिख दूंगा।" यही नहीं, उन्होंने दिन गिन कर मुझे एक निश्चित तिथि भी दे दी—भूमिका सहित पांडुलिपि वापस पाने की। और मैं गद्‌गद् हो चली आई।

निश्चित समय में उन्होंने अपना दिया वचन पूरा कर दिया। काका साहब की आयु व स्वास्थ्य की स्थिति देखते हुए यह कोई सामान्य बात न थी। महान व्यक्ति ऐसी ही असामान्यताएं या असाधारण क्षमताएं लिये होते है। काका साहब कालेलकर का तो पूरा जीवन ही एक साधक का रहा था। समग्र जीवन की साधना, समन्वय की साधना, दृष्टिकोण की व्यापकता की साधना।

समग्र जीवन के साधक

काका साहब कालेलकर



अपनी पुस्तक 'भारतसेवी विदेशी नारियां' की भूमिका लिखवाने के लिए मुझे बार-बार काका साहब कालेलकर का नाम ही सूझता था। पर मन में एक संकोच था कि क्या इतनी उम्र में उन्हें कष्ट देना ठीक होगा ? या, क्या वह इसे स्वीकार कर पाएंगे ? फिर भी 'पूछ लेने में क्या हर्ज है', यह सोच कर मैंने उन्हें पत्र लिख दिया। स्वीकृति का तुरंत उत्तर पाकर मेरा उत्साह बढ़ा और मैं पांडुलिपि लिये उनके पास चल दी।

राजघाट कॉलोनी में उनके निवास स्थान पर पहुँच कर मैं एक बार फिर सकोच से भर उठी। काका साहब बिस्तर पर लेटे हल्के-हल्के कराह रहे थे। इसके पूर्व भी मैं उनसे दो बार मिल चुकी थी। पर इस बीच काफी समय बीत चुका था। अब ऐसी हालत में शायद ही उन्हें मेरे बारे में कोई पूर्व स्मृति हो। पर उनके पत्र से जाहिर था कि वे मुझे जानते हैं। इसलिए उनके सिरहाने पड़ी बच्चों वाली स्लेट-बत्ती उठा कर मैंने उस पर लिखा कि मैं कौन हूं और किस लिए आई हूं। काका साहब की श्रवण शक्ति जवाब दे चुकी थी, पर दृष्टि और स्मृति दोनों कायम थी। उन्होंने स्लेट उठा कर पढ़ा और चेहरे पर पहचान की रेखाएं लाकर मुस्कराए। पास बैठी महिला सरोज नानावती को मेरे बारे में बताया, उनसे डायरी में लिखवाया कि आज कौन-कौन उनसे मिलने आया, मुझे चाय-पानी पूछने का आदेश दिया और फिर बातचीत करने लगे।

पता चला, यह सरोज नानावती उनकी धर्म बेटी भी हैं, निजी सहायक भी। उन्हें देश-विदेश घुमाने व उनका रिकार्ड रखने से लेकर उनके लेखन–प्रकाशन में सहायता करने तक की सारी कार्य-व्यवस्था तो देखती ही रही हैं, इधर उनके स्वास्थ्य की देखभाल की जिम्मेदारी भी संभाल रही हैं और हर स्थिति में उन्हें सक्रिय रखने की भी। शायद तभी""""पर ये जरिये या माध्यम समर्पित सेवक महानताओं को कभी जुटाने नहीं पड़ें, अक्सर उनके पास स्वयं ही आ जुटते रहे हैं। काका साहब के कार्य को आजीवन समर्पित नानावती बहन उनके बाद आज भी उनका छूटा कार्य पूरा कर रही हैं।

मैंने काका साहब को अपनी एक पुस्तक भेंट की तो प्रसन्न हुए और कहा, "मैं अवश्य पढ़ूंगा"""" हां, अभी भी पढता हूं, जब नहीं पढ पाता, तो सुनता हूं, इसके बिना मैं रह ही नही सकता।" सुना था, इसी तरह लेटे-लेटे वह अभी भी यात्राएं करते रहते है। पूछने पर बोले, "हां, लोग बुलाते हैं तो जाना पड़ता है। यहां भी हर समय लेटा नही रहता, सुबह-शाम टहलता भी हूं। नहीं तो जीना मुश्किल हो जाए।"

फिर वह उठ कर बैठ गए। पांडुलिपि को थोड़ा उलटा-पलटा और पहला नाम भगिनी निवेदिता पढ कर खुश हुए, "मैं तो इनका बहुत भक्त हूं। मीरा बेन का भी। इन सेवा-मूर्तियो की सेवा-भावना की मैं बहुत कद्र करता :हूं। इसीलिए मैं इस पुस्तक की भूमिका लिखने के लिए तुरन्त तैयार हो गया। आपने इन पर लिखा, यह बहुत अच्छा काम किया। आप पांडुलिपि छोड़ जाइए, मैं इसे पढ़ूंगा।"""" हां, पूरी पढूंगा, तभी लिखूंगा, ऐसे ही नही लिख दूंगा।" यही नही, उन्होने दिन गिन कर मुझे एक निश्चित तिथि भी दे दी—भूमिका सहित पांडुलिपि वापस पाने की। और मैं गद्‌गद् हो चली आई।

निश्चित समय मे उन्होंने अपना दिया वचन पूरा कर दिया। काका साहब की आयु व स्वास्थ्य की स्थिति देखते हुए यह कोई सामान्य बात न थी। महान व्यक्ति ऐसी ही असामान्यताएं या असाधारण क्षमताएं लिये होते हैं। काका साहब कालेलकर का तो पूरा जीवन ही एक साधक का रहा था। समग्र जीवन की साधना, समन्वय की साधना, दृष्टिकोण की व्यापकता की साधना।

काका साहब का व्यक्तित्व बहुआयामी था। वह लेखक, विद्वान, शिक्षाशास्त्री, भाषाशास्त्री, राष्ट्रभाषा प्रवक्ता, सर्व धर्म सद्भाव के पोषक, सतत विकासशील प्रयोगधर्मी, परिव्राजक, पर्यटक सभी कुछ थे। वे राष्ट्र प्रेमी और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भावना के पोषक मानवतावादी एक साथ थे, क्योंकि भारतीयता के प्रबल समर्थक होकर भी वे राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में कोई विरोध नहीं देखते थे। जाति, भाषा, धर्म, प्रांतीयता, राष्ट्रीयता के भेद एक मानववादी के लिए कोई मायने नहीं रखते। उन्होंने जहां से जो पाया, जो ठीक लगा, उसे अपना लिया, जो ठीक नहीं लगा, उसे छोड़ दिया। देश के जनमानस में अनुकूलता न पाकर वे सहज भाव से अपने प्रयोगों और आग्रहों को भी छोड़ने के लिए तैयार हो जाते थे, क्योंकि किसी भी पूर्वाग्रह या मताग्रह को वह तानाशाही मानते थे। केवल देवनागरी लिपि व हिन्दुस्तानी तालीम को ले कर उनका मताग्रह देर तक चलता रहा, यद्यपि आगे चलकर उनकी समन्वय वृत्ति ने उसे भी छोड़ दिया था।

चिर प्रवासी काका कालेलकर अपने देश-विदेश के निरन्तर पर्यटन के लिए भी विख्यात रहे। 'चरैवेति-चरैवेति' उनके जीवन का मूल मंत्र था जैसे। अपनी पुस्तक 'परम सखा मृत्यु' में उन्होंने अपने दीर्घ जीवन का रहस्य ही 'निरन्तर यात्रा' बताया है। जीवन में अनवरत उत्साह व नवीनता बनाए रखने के लिए कर्मठता और यात्रा बहुत जरूरी है, पुरातनता और नवीनता का समन्वय करते चलना भी।

काका कालेलकर का जन्म 1 दिसम्बर, 1885 को सतारा (महाराष्ट्र) के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार में हुआ था। 17 वर्ष की उम्र में विवाह हुआ, तब वह मैट्रिक में पढ़ रहे थे। 1929 में वह विधुर हो गये। दुबारा विवाह नहीं किया, क्योंकि तब तक सार्वजनिक जीवन में रच-बस चुके थे। अपनी पढ़ाई पूरी कर काका साहब ने 'शान्तिनिकेतन' में एक वर्ष अध्यापन-कार्य किया। फिर 1915 में गांधी जी के साथ हुई उनकी भेंट उनके जीवन का एक महत्वपूर्ण मोड़ सिद्ध हुई। दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी के सत्याग्रह का वृत्तान्त वह पढ़ते ही थे। शान्तिनिकेतन से उनके राष्ट्र-प्रेम और लेखन-संस्कार को भी बल मिल चुका था। बस तुरन्त अध्यापकी छोड़, वह गांधी जी के साथ हो लिये। 26 मई 1915 को काका साहब सत्याग्रह आश्रम कोचर्ब पहुँच गए। कोचर्ब से आश्रम साबरमती गया तो वह साबर-

मती चले गए। गांधी जी का, उनका साथ 1948 में गांधी जी को गोली लगने तक 33 वर्ष निरन्तर चला। काका साहब गांधी-दर्शन के चार प्रमुख प्रवक्ताओं—महादेव देसाई, किशोरीलाल मशरूवाला आचार्य विनोबा भावे, काका कालेलकर—में से एक थे। इसी नाते गांधीवादी समर्पित स्वतन्त्रता-सेनानी भी।

काका साहब अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की कार्यकारिणी में तो रहे ही, हर आन्दोलन में जेल भी गए। अक्सर आश्रमवासी कार्यकर्ता रचनात्मक कार्य करते थे। पर काका कालेलकर दोनों दिशाओं में निरन्तर सक्रिय रहे। हरिजनों, पिछड़ी जातियों, वर्गों का उद्धार कार्य, आश्रम-स्कूल का संचालन, हिन्दुस्तानी तालीमी संघ का कार्य, स्वदेशी प्रचार-कार्य, ग्रामोद्योग उत्थान-कार्य जैसे रचनात्मक कार्यों मे भी उन्होने अग्रणी भाग लिया। सन् 1922-30, 32, 33, 42-45 के सभी स्वतन्त्रता-आंदोलनों में जेल भी गए। यही कारण था कि आजादी के बाद भी उन्हें ऐसे ही कार्य सौंपे गए। 1953-55 में हरिजन कल्याण व पिछड़ी जाति आयोग के अध्यक्ष रहे। 'गांधी स्मारक निधि' का काम तो अन्त तक देखते रहे।

पर काका कालेलकर के कार्य की एक तीसरी दिशा भी थी। बल्कि कहें पहली, क्योंकि मूलतः वह लेखक-पत्रकार-साहित्यकार ही थे। वह बहु भाषाविद् थे पर राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के प्रबल समर्थक रहे। उन्होने हिंदी, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी सभी में लिखा और खूब लिखा। गांधी दर्शन के प्रमुख प्रवक्ता के नाते ही नहीं, एक चिन्तक साहित्यकार के नाते भी। रवीन्द्रनाथ टैगोर को अन्य भाषाओं में ले गए। कई मराठी, हिंदी, गुजराती पत्रिकाओं का संपादन किया। गांधी जी के 'यंग इंडिया' (अंग्रेजी) व 'नवजीवन' (गुजराती) के संपादन में योग दिया। पत्रिकाओं में निरन्तर लेखन के अलावा, उनकी हिन्दी, मराठी, गुजराती में लिखी पुस्तकों की सख्या भी अच्छी खासी है—110, जिनमें से कुछ पुरस्कृत भी है। गुजराती पुस्तक 'जीवन व्यवस्था' पर उन्हें 1966 में 'साहित्य अकादमी' पुरस्कार मिला। उसी वर्ष उनकी चर्चित पुस्तक 'परम सखा मृत्यु' उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत हुई।

काका कालेलकर देश के जाने माने गांधीवादी कार्यकर्ताओं में से एक थे। एक समर्पित देशभक्त, समाज चिन्तक, और साहित्यसेवी के नाते उन्हें

देश-विदेश में खूब सम्मान मिला। किन्हीं विषयों पर उनसे मतभेद रखने वाले भी उनके तेजस्वी व्यक्तित्व और प्रभावशाली वक्तृत्व-कला का सम्मान करते थे। विश्वविद्यालयों में वह उपकुलपति और कुलपति भी रहे। शिक्षा शास्त्री के नाते 1967 में उन्हें सरदार पटेल विश्वविद्यालय से तथा 1971 में गुजरात विश्वविद्यालय से 'आनरेरी डी. लिट.' की उपाधि प्रदान की गई। वरिष्ठ साहित्यकार के नाते 1971 में उन्हें साहित्य अकादमी का आजीवन फैलो चुना गया और राष्ट्रसेवी के नाते गणतंत्र दिवस 1964 पर उन्हें 'पद्मविभूषण' का उच्च राष्ट्रीय सम्मान प्रदान किया गया।

इसके पूर्व 1952 में उन्हें राज्य सभा का सदस्य भी मनोनीत किया गया था। छः वर्ष के सामान्य कार्य-काल के बाद उन्हें राष्ट्रपति द्वारा ससम्मान दुबारा मनोनीत कर लिया गया। इस तरह वह 1952-64 की लम्बी अवधि तक मनोनीत संसद सदस्य रहे। ऐसा सम्मान विरलों को ही मिलता है।

काका साहब कालेलकर अपने आप में एक 'सजीव संस्था' थे। अद्भुत जीवट के धनी। अति वृद्धावस्था में अत्यन्त क्षीण हो कर भी अन्त तक कार्यरत रहे। कार्य को पूजा-भाव से ग्रहण करने, निरन्तर सीखने और बाटते चलने वाले साधक और द्रष्टा ही अपने अंत तक इस तरह जीवन्त रह सकते हैं। अपनी 96 वर्ष की लंबी आयु तक राष्ट्र का मार्ग-दर्शन करने वाला यह विद्याव्यसनी ऋषि 21 अगस्त 1981 को इस संसार से विदा हुआ अपने पीछे सुकीर्ति की एक लंबी रेखा खींच कर। सैकड़ों-हजारों हृदयों पर अपनी छाप छोड़ कर।

उनके शब्दों में "विद्या की सच्ची उपासना के लिए पूरा जीवन ही उसमें रंगा होना चाहिए। एक सैनिक के कष्ट-सहिष्णु जीवन की तरह ही विद्यार्थी और साधक का जीवन भी कष्ट-सहिष्णु होना चाहिए।" काका साहब कालेलकर का जीवन ऐसे ही एक सहिष्णु साधक का जीवन था, जिसे उन्होंने निरन्तर अध्ययन, निरन्तर भ्रमण, प्रकृति-सौंदर्य और मानवीयता के स्पन्दन से आनंद के स्रोत में परिणत कर लिया था। जीवन-साधना हम में से अनेक लोग करते हैं, पर कितनों को मिलती है यह सिद्धि ? △



जिज्ञासु और चिन्तक साहित्यकार

जैनेन्द्रकुमार

सन् 1975। 'भारतीय साहित्य परिषद' की एक गोष्ठी के लिए मैंने मूर्धन्य चिन्तक-साहित्यकार श्री जैनेन्द्र कुमार को अध्यक्षता के लिए आमंत्रित किया था। समय पर गाड़ी उन्हें लेने गई तो पता चला कि जैनेन्द्र जी अपने अवकाश के समय मित्रों के बीच जहाँ खेलने जाते थे, वहीं चले गये हैं। गाड़ी लौट आयी तो जान कर मुझे निराशा हुई। आश्चर्य भी हुआ कि समय देकर जैनेन्द्र जी घर पर क्यों नहीं मिले ! तभी देखती हूँ जैनेन्द्र जी स्कूटर से उतर कर स्कूटर वाले को पैसे दे रहे हैं। मैं दौड़कर पहुँची कि स्कूटर का किराया वह स्वयं न दें, लेकिन तब तक स्कूटर वाला पैसे लेकर चल दिया था। सामने से आते जैनेन्द्र जी तुरत हाथ जोड़ कर बोले, "क्षमा करना, बहन, मैं तो बिल्कुल भूल ही गया था, इसीलिए खेलने चला गया। फिर जैसे ही याद आया, स्कूटर लेकर भागा। ज्यादा देर तो नहीं हुई न ?... नहीं-नहीं, स्कूटर-किराया अब मुझे ही देना है। आपकी गाड़ी तो लौट आयी। गलती मेरी थी, सजा आप क्यों भुगतें ?

सचमुच गोष्ठी प्रारंभ होने में अधिक देर नहीं थी। समय पर जैनेन्द्र जी को देखकर, सबकी जान में जान आयी। लेकिन मैं देख रही थी, जितने बड़े साहित्यकार, उतने ही सरल मानव। यह सरलता और विनम्रता ही जैनेन्द्र जी को सबके लिये सहज उपलब्ध बना देती है। शुरू में मैं उनके

घर डरते-डरते गई थी कि इतने बड़े चिन्तक साहित्यकार हैं, न जाने किस तरह पेश आयें ? पर पहली ही भेंट में उनके भीतर के मानव का जो परिचय मुझे मिला, तब से आज तक उसका वह रूप यथावत् कायम है। बाहर जहाँ कहीं मिलते हैं, उसी आत्मीय भाव में। उनके घर जब कभी जाना होता है, घर के सदस्य-सा अपनत्व देते हैं। वह ही नहीं, उनकी पत्नी, बेटा, बहू—सब लोग। आग्रह से नाश्ता या खाना खिलाना भी नहीं भूलेंगे। यह नहीं कि बैठक में मिले और चले आये। घर के भीतर तक आग्रही निमंत्रण और सहज प्रवेश का अधिकार हमें मिलता है। बस जाने से पहले एक फोन कर लेना काफी है। पर जब भी फोन किया, भेंट का समय निश्चित करने के बजाय उधर से उत्तर मिला, "जब कभी इस तरफ आओ, आ सकती हो। सुबह नौ बजे से प्रस्तुत रहता ही हूँ। हां, दोपहर बाद आना हो तो पूछ लेना चाहिए कि घर पर हूँ या नहीं ?" हमेशा इसी तरह सहज अपनत्व भरा व्यवहार। कभी सोचती हूँ, शायद यह सभी महान व्यक्तियों का गुण है। लेकिन हर जगह ऐसा नहीं पाती तो मन के भीतर कुछ अलग-अलग खाने बनाने पड़ते हैं।

'समय और हम' 'वृत्तविहार' 'विहंगावलोकन', आदि स्तंभों के माध्यम से देश-समाज की सभी समसामयिक समस्याओं पर नियमित रूप से अपना अभिमत व्यक्त करने वाले श्री जैनेन्द्र कुमार एक मूर्धन्य साहित्यकार ही नहीं, उच्च कोटि के विचारक भी है। बल्कि अब तो उनका चिन्तक का रूप ही उनके साहित्यकार पर हावी है और प्रायः उन्हें साहित्यकार के बजाय चिन्तक ही कहा जाता है।

गहन चिन्तन और विचार-मंथन में रचे-पगे जैनेन्द्र कुमार के पास हर प्रश्न का जैसे एक निश्चित उत्तर हर समय प्रस्तुत रहता है, लेकिन उसकी दार्शनिक अभिव्यक्ति मतभेद के दोनों छोरों को छूती हुई सी लगती है। इसलिये प्रश्नों से कितना ही घेरो, वह कहीं रुकते-चूकते नहीं। विषय साहित्य हो, राजनीति या समाजनीति, प्रेम हो या काम, विवाह हो या विवाहेतर सम्बन्ध, धर्म हो या धर्म-निरपेक्षता, राष्ट्रीयता, साम्प्रदायिकता आदि, जैनेन्द्र जी से हर विषय पर गहरे उतर कर और खुल कर चर्चा की जा सकती है। आगे होकर वह अधिक नहीं बोलते, लेकिन हर प्रश्न का उत्तर देने के लिये बड़े सहज भाव से तत्पर दिखाई देते हैं; वह भी सरल,

किन्तु सधी हुई दार्शनिक व साहित्यिक भाषा में। शायद यही कारण है कि श्री अज्ञेय या श्री विष्णुप्रभाकर के साथ मैं कभी खुल कर चर्चाएँ नहीं कर सकी। जैनेन्द्र जी के साथ चर्चा के समय ऐसा कोई मानसिक संकट या अभिव्यक्ति का संकट मेरे सामने नहीं रहा। इसका श्रेय मुझे नहीं, जैनेन्द्रजी को ही जाता है।

समय-समय पर उनसे हुई चर्चाओं के विस्तार में जाना यहाँ संभव नहीं। हिन्दी के सभी प्रबुद्ध पाठक उन्हें पढ़ते हैं, इस नाते उनकी विचार-शैली से परिचित हैं। फिर भी पिछले दिनों उनसे की गई ताजी भेंट में मेरे द्वारा उठाए गए कुछ प्रश्नों पर उनके उत्तर संक्षेप में इस प्रकार हैं :

'जैनेन्द्र जी, आपके साहित्यकार-उपन्यासकार के ऊपर आपका जो चिन्तक, दार्शनिक का रूप हावी हो रहा है, उस पर आपकी प्रतिक्रिया ?"

"मुझे इसकी चिन्ता नहीं। चिन्ता कथित *अमर साहित्य* का सृजन करने वाले उन लोगों को हो सकती है जो वर्तमान का सामना नहीं करना चाहते, इसलिये उसे लांघ जाते हैं। आप बताइये, राम, कृष्ण न होते तो वाल्मीकि, व्यास कहाँ होते ? लोग समझते हैं, चिन्तक बन कर मैं कुछ नीचे आ गया हूँ। लेकिन क्यों ? हीनता न कला के साथ जोड़नी चाहिए, न चिन्तन के साथ।"

"लेकिन सामयिक समस्याओं पर चिन्तन की पुस्तक-रूप में उपयोगिता ?"

"स्थायी शाश्वत महत्व मूल्यों का होता है। आप यह देखें कि चिन्तन सामयिक होकर भी उन मूल्यों से जुड़ा है कि नहीं ? गांधी जी राष्ट्रीय प्रश्नों को ईश्वर-आज्ञा से जोड़ कर लाख-लाख लोगों के मानस पर प्रभाव छोड़ते थे। जैनेन्द्र अपने आप में अध्ययन का व्यक्तित्व समझा जाय तो इन सामयिक प्रश्नों का भी स्थायी मूल्य होगा।"

"प्रेम और विवाह" शीर्षक आपकी पुस्तक में प्रगट किए गये आपके विचारों और आपके औपन्यासिक पात्रों में क्या अन्तर्विरोध नहीं ?"

"नहीं। केवल प्रेम और काम के संबंध और द्वन्द्व को समझ लेना होगा। भोग की मर्यादा है। प्रेम में सीमा नहीं होती। प्रेम मुक्त है, जबकि काम मुक्त नहीं हो सकता। प्रेम पर संयम नहीं चल पाता। संयम की जरूरत काम के संबंध में मानी जा सकती है, क्योंकि काम अपनी प्रकृति से

परिबद्ध है। प्रेम अमूर्त है। तत्काल के लिये उसका जो लक्ष्य प्रतीत होता है, वह असल में उप-लक्ष्य होता है, क्योंकि अन्ततः प्रेम को जीव-चराचर से गुजर कर ईश्वर तक पहुँचना होता है। मैं मानता रहा हूँ कि पति और प्रेमी तथा पत्नी और प्रेयसी में प्रतिद्वन्द्विता के लिए अवकाश नही है। वे तो परस्पर पूरक हैं।

लेकिन काम को अवकाश नही दिया जा सकता कि वह समाज-व्यवस्था को भंग करे। विवाह की सृष्टि व्यवस्था के लिये हुई, इसलिए मर्यादाओं का निर्माण हुआ। मर्यादा के बिना समाज-व्यवस्था चल नही पाती। व्यवस्थाहीनता जगल में हो सकती है, समाज मे नही। किन्तु हर व्यवस्था कालान्तर में जब जड़ पड़ जाती है, तब उसमें बदलाव लाना आवश्यक हो जाता है। ये परिवर्तन प्रेम को उत्तरोत्तर मुक्त करने की दिशा में ही होंगे। काम के प्रति हम में शका और भय है, क्योंकि काम प्रगट होता है प्रेम की असह्यता में से। प्रेम तो वह है, जिसमे व्यक्ति का अहम भस्मीभूत हो जाता है। इस तरह प्रेम में से जब हम अपनी मृत्यु प्राप्त करते है तो जीवन दिव्य हो उठता है। काम से प्राप्त मृत्यु क्षणिक मृत्यु-लाभ है इसलिये दिव्यता को वहां अवकाश नही रहता। साहित्य में काम को सर्वोपरि स्थान देने में यही खतरा है कि हम परस्पर कृतार्थता से रहित क्षणिक मृत्यु-लाभ को सनातन और शाश्वत लाभ मान लेते हैं। यह भूल पश्चिम की नकल से आयी है, जो आज के अधिकाश साहित्य मे देखी जा सकती है।"

आधुनिक साहित्य का प्रसग आ ही गया था। मैंने उस पर उनकी प्रतिक्रिया जाननी चाही तो उनका उत्तर था, "अब सारी रूढ़ धारणाए उखड़ रही हैं। कोई आस्था अडिग नही बची। सब कुछ हिल गया है। अस्त व्यस्त हो गया है। इसकी धुंध सारे आकाश पर छायी है। धुंआ घनीभूत है। लेकिन लगता है, लौ इसी में से फूटेगी। तर्क, विश्लेषण की धार आज के मानस मे खूब पैनी है। लेकिन तर्क, मात्र तर्क कहो पहुँचाता नही, भटकाता है। इसलिये बेचैनी है। एक तलाश है। अभी यह नही मालूम कि किसकी तलाश ? इसलिए धुध है। पर तल पा जाने की तलाश और उसके लिये बेचैनी बताती है कि धुध छंटेगी और प्रकाश छितरायेगा।"

जैनेन्द्रजी नैतिकता मे गिरती हुई आज की दर्नीय राजनीति और समाज के हर पहलू को अपने मे आवेष्ठित करती हुई राजनीति से इतने चिंतित हैं कि समय-समय पर साम्प्रदायिकता, धर्म और धर्मनिरपेक्षता

राष्ट्रीयता और मानवीयता, विश्व-समाज में बढ़ती हुई हिंसा और अहिंसक शक्ति द्वारा समाधान आदि विषयों पर निरन्तर अपने विचार प्रगट करते रहते है। सभी जागरूक पाठक उनके विचारों से परिचित है। फिर भी यहाँ प्रस्तुत हैं, बानगी के रूप में कुछ अंश :

"धर्म का जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। समाज में मानवीय मूल्यों की स्थापना धर्म के माध्यम से होती रहती है। उसके अभाव में समाज और व्यक्ति दोनों विघटित होते हैं, ऐसा माना जाता रहा है। यही धर्म साम्प्रदायिक कलह का कारण भी बनता रहा है। लेकिन व्यक्ति धार्मिक बने, अपने-अपने धर्म मे आस्था रखे, इस अर्थ में झगड़े को कोई अवकाश नही। कलह तभी उत्पन्न होती है, जब उसके पीछे निहित स्वार्थ होते हैं और विरोधी पक्ष धर्म और साम्प्रदायिकता की अपने पक्ष में विभिन्न परिभाषाएँ करने लगते है। साम्प्रदायिकता हमेशा धर्म-भावना से रिक्त होती है। अतः साम्प्रदायिक आन्दोलन के पीछे कोई बड़ा राजनीतिक स्वार्थ ही प्रायः होता है। सच पूछिए तो स्वराज्य मिलने की प्रक्रिया में ही यह विष प्रवेश पा गया था, जब हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को आधार मानकर 'दो राष्ट्र सिद्धान्त' पर विभाजन स्वीकार किया गया।"

"धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त को लेकर भी काफी खींचतान चलती है। लेकिन धर्म-निरपेक्षता का मतलब धर्म-विमुखता कदापि नहीं होता। निरपेक्षता में सभी धर्मों के प्रति समान आदर और समान अनादर की दोनों वृत्तियाँ आ जाती है। इसलिये इसे स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाना चाहिए कि बात सब धर्मों के प्रति समान आदर के भावाशय तक पहुँचे।"

"राष्ट्रीयता और मानवीयता को हमने कभी खंडित रूप में नहीं देखा। धर्म और कर्म को भी भारतीयता के संदर्भ में कभी खंडित रूप में नहीं देखा गया। भारत में संकीर्ण राष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा कभी नहीं रही, न कभी आगे रहेगी। हमारे यहां भौगोलिक सीमाएं घटती-बढ़ती रही है। राजनैतिक एकता भी कभी नहीं रही। इसके बावजूद राष्ट्र एक था, राष्ट्रीयता उसमें निहित थी। वर्तमान राष्ट्रवाद की धारणा, जिससे यूरोप अब तक पीडित हैं, हमने पश्चिम से ओढ़ ली हैं। भारतीयता की अंतरात्मा के अनुकूल यह नहीं है। भारतवर्ष की भावना प्राप्त हुई, इस विशाल भूखंड को संतों और ऋषियों से, न कि सेनानियों और विजेताओं से।"

भारतीय समाज और स्त्री के संदर्भ में, "हमारे संस्कार हैं—अपनी पहचान मिटा दो। लेकिन अब सारे प्रयत्न ही पहचान बचाने और अस्तित्व स्थापित करने के लिए हैं। सारे आन्दोलनों, सारे झगड़ों के मूल में यही बात है। 'फ्री सेक्स' हल नहीं। मुक्त भाव से प्रेम का स्वीकार आना चाहिए। कानून व पुलिस-अंकुश जितना बढ़ा है, अपराध भी उतना ही बढ़ गया है। समाज में जब स्पर्धा बढ़ती है तो सारे मानवीय संबंधों में संशय आ जाता है। हर एक पर विश्वास करने से हम ठगेंगे, पर हल उसी से निकलेगा। व्यावसायिक बुद्धि-चातुर्य पर आज अनावश्यक जोर है। इसलिए हृदय-मूल्य पीछे हो गये हैं। बुद्धि चरम पर पहुँचकर अपनी व्यर्थता को स्वीकार करती है। लौट की मन.स्थिति और तनाव-मुक्ति की चाह इसी से पैदा होती है।"

और साहित्य के संदर्भ में, "इधर हिन्दी की रचनाओं में सब कुछ तर्कसंगत और यथार्थसम्मत देखता हूँ तो बड़ी चिढ़ होती है। जैसे सपने को जिन्दगी से काटकर अलग कर दिया जाय। भला ऐसा हो सकता है कि जिन्दगी में ऊटपटांग कुछ भी न हो। सब विहित और वैज्ञानिक हो। आदमी सही ज्यामिति की शक्ल में ढल जा सके तो उसका आदमी बनना निरर्थक ही तो हुआ। विवेक की कितनी ही बड़ाई कीजिए, होता है वह द्वन्द्वजनित। तो क्या द्वन्द्व को जीवन में आने देना और रचना में उभर जाने देना निषिद्ध ठहराया जायेगा? नहीं। लेकिन व्यक्ति बुद्धिमान हो, इसके पहले सहज हो। जीवन में टिकने के लिए आस्था और विश्वास भी जरूरी है। कुछ अनुशासन और मर्यादाएं भी। संतुलन इसी से सधता है।"

जैनेन्द्र जी का जन्म 2 जनवरी, 1905 को उत्तरप्रदेश, जिला बिजनौर के एक छोटे से गाव में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा हस्तिनापुर जैन ब्रह्मचर्य गुरुकुल में हुई। मैट्रिक के बाद इंटरमीजिएट की पढ़ाई बीच में छोड़ कर वह अपनी विधवा माँ की सहायतार्थ कुछ करने को प्रवृत्त हुए, पर माँ के ही प्रोत्साहन से स्वतन्त्रता-संग्राम में कूद पड़े। कई बार जेल भी गए। सन् 1929 के आस पास उनकी रचनाएं छपने लगी थीं। सादगी और अपरिग्रह-वृत्ति पर चलते हुए वह पूरी तरह साहित्य को समर्पित रहे, उन्होंने कभी नौकरी या अन्य व्यवसाय नहीं किया। उनके अनुसार, "मैं नहीं जानता, पहले मां ने व फिर पत्नी ने कैसे घर-खर्च का जुगाड़ बिठाए रखा, मैं तो ऐसी जिम्मेदारियों से प्रायः मुक्त रह कर ही जीता आया हूँ।

इस दृष्टि से एक विफल पति व विफल पिता [illegible] का [illegible]
भत्ता मिलना मिलता था। पर उस जमाने में अभावों [illegible] लेकर आज
की तरह मानसिक क्लेश नहीं होता था। कुछ गांधी जी का प्रभाव भी था।

पर उनके सुगठित, सुसंस्कृत परिवार को देख कर ऐसा नहीं लगता
कि वह विफल पति और विफल पिता रहे होंगे। कोठी, कार या अपना एक
छोटा मकान आज भी उनके पास नहीं है। पर उनका अपना प्रकाशन है
और उनकी अपनी अच्छी आर्थिक हैसियत भी है। और क्यों न हो। जीवन-
भर वह लिखते-लिखाते ही तो रहे हैं। उनके अब तक, 12 उपन्यास,
लगभग तीन सौ कहानियां, 10 कहानी-संग्रह और धर्म, दर्शन, साहित्य,
राजनीति पर, लगभग चालीस पुस्तकें हैं। 'पद्मश्री', 'साहित्य अकादमी
पुरस्कार', 'अणुव्रत पुरस्कार' व अन्य अनेक पुरस्कारों-सम्मानों से विभूषित
हो चुके हैं। उनकी रचनाओं का सभी भारतीय भाषाओं व अनेक विदेशी
भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और उनकी पाठक-संख्या विशाल है। फिर
भी रहन सहन में वही सादगी। बातचीत में वही विनम्रता-अपने को अकिंचन
और निकम्मा मानने-कहने तक। और आज भी वही अपरिग्रह-वृत्ति कि
'अणुव्रत पुरस्कार' में प्राप्त एक लाख की राशि को उन्होंने एक ट्रस्ट बना
कर 'अहिंसा को विश्व-व्यापी स्वर देने' के उद्देश्य के लिए अर्पित कर
दिया।

स्थापित साहित्यकारों में जैनेन्द्र जी अपनी मिसाल आप ही हैं—एक
बेजोड़ व्यक्तित्व, जो बाल-सुलभ जिज्ञासु भी है, महान दार्शनिक, चिन्तक,
साहित्यकार भी। वह कहते हैं, "मेरा मूल रूप जिज्ञासु का ही है।"
महत्वपूर्ण भाषण मालाओं में उनकी उपस्थिति व तन्मयता के रूप में मैंने
इसे प्रत्यक्ष देखा भी है। एक ओर उन्हें साहित्यिक गोष्ठियों-समारोहों में
अध्यक्षता के लिए और भाषण देने के लिए आदर से बुलाया जाता है, दूसरी
ओर वह हर छोटे-बड़े मिलने वाले से कुछ न कुछ पूछते, ग्रहण करते दिखाई
देते हैं। हर महान चिन्तक मूलतः बाल-सुलभ जिज्ञासु ही होता है और जीवन
में ऊँचा उठने के लिए निरन्तर जिज्ञासु बना रहता है, इस तथ्य को न
समझने वाले आलोचक ही जैनेन्द्र को अस्पष्ट, उलझा हुआ या दुहरे व्यक्तित्व
वाला कहते हैं। सचमुच ही गहन गंभीर और उतना ही सहज सरल यह
विलक्षण व्यक्तित्व अपने आप में एक अध्ययन का विषय है।

संस्कृति के सत्व से सना एक विलक्षण व्यक्तित्व

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'



"हिन्दी के लिए मुझमे पूर्वाग्रह भी है, हिन्दी का लेखक होने के नाते स्वयं पर अभिमान भी। पर विश्व-सन्दर्भ में हिन्दी की बात करते मुझे संकोच होता है। मेरा स्वप्न तो 'भारतीय हिन्दी' है। विश्व की चिन्ता बुनियादी नही, परिणामतः चिन्ता होनी चाहिए। पहले जरूरी है, अपनी हीनभावना से मुक्ति और आजादी के बाद इन 30-35 वर्षों में हिन्दी को लेकर देश में फैली धुंध को काटना। कोई भी भारतीय भाषा राष्ट्रभाषा बने, हमें स्वीकार होगी, पर अपनी एक भाषा को राष्ट्रभाषा स्वीकार किये बिना विश्व-सन्दर्भ में उसका स्वप्न देखना एक झूठा स्वप्न है।······· दूसरा प्रश्न है हिन्दी के स्वरूप-निर्धारण का। इसके लिए न तो हमें केवल विदेशियों या प्रवासी भारतीयों की सुविधा देखनी है, न केवल सरकारी कामकाज की। लोकभाषा का स्वरूप राजभाषा का स्वरूप और साहित्य की भाषा का स्वरूप—ये तीनों अलग-अलग प्रश्न हैं। भाषा का स्वरूप-निर्धारण भी इन सभी आवश्यकताओं के अनुसार ही होगा।·······हिन्दी भाषा तो वह कामधेनु है, जिससे राजकाज और ज्ञान विज्ञान के विविध क्षेत्रों से लेकर लोकसम्पर्क तक का सभी काम बखूबी लिया जा सकता है।" राष्ट्रभाषा हिन्दी को लेकर अपने ये विचार हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार स. ही. . 'अज्ञेय' ने राजधानी के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में आयोजित [illegible] विश्व में हिन्दी' संगोष्ठी में व्यक्त किए।

5 नवम्बर 1983। दीपावली से अगला दिन। परस्पर मंगल-मिलन वेला और तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के बाद राजनीति प्रेरित सम्मेलन की अस्तव्यस्तता से खीझे-भरे मन। पर इस सगोष्ठी का सुखद वातावरण जैसे शीतल पौष्टिक मानसिक खुराक देकर आमंत्रितों को राहत प्रदान कर रहा था। एक दिन पूर्व सुविख्यात विधिवेत्ता, प्रबुद्ध विचारक और 'इंडिया इंटरनेशनल सेंटर के न्यासी' डा. लक्ष्मीमल सिंघवी का फोन से आग्रह मिला कि सम्मेलन में आए अतिथियों के स्वागत-सम्मान में एक मिलन-गोष्ठी रखी गई है, जिसमें कुछ चुने हुए भारतीय और विदेशी हिन्दी विद्वानों साहित्यकारों के परस्पर सानिध्य में हिन्दी के प्रश्न पर भी विचार होगा। सानिध्य या मिलन का ऐसा अवसर हम लोगों को सम्मेलन के दौरान नहीं मिल पाया था। अतः इस आकर्षण और आग्रह में बंधी मैं स्थान की दूरी और त्यौहार की थकान भूलकर भी संगोष्ठी में सम्मिलित होती हूँ और अन्य देशी-विदेशी साहित्यकारों के साथ अज्ञेय जी के ये अमूल्य विचार भी सुनने को मिलते हैं।

यों इसके पूर्व भी अज्ञेय जी से कई बार भेंट होती रही है—उनके सम्पादकत्व में 'दिनमान' के लिए लेखन संबंधी विषय-चर्चा से लेकर बाहर गोष्ठियों-सम्मेलनों में समय-समय पर अनौपचारिक भेंट, भारतीय साहित्य परिषद की एक संगोष्ठी की आयोजिका के नाते गोष्ठी के अध्यक्ष रूप में उनका सहयोग प्राप्त करना और पत्र-पत्रिकाओं के लिए किन्हीं विषयों को लेकर कभी-कभी साक्षात्कार भी।

इस सम्पर्क से बहुत पहले उन्हें पढ़ती आ रही थी। मेरे पाठकीय मन पर उनकी साहित्यिक गरिमा का वह पूर्व प्रभाव और हर बार भेंट के समय उनकी व्यक्तित्व-गरिमा का ताजा प्रभाव मिलकर मुझे अभिभूत कर जाता और चाह कर भी बात उतनी खुलकर न हो पाती, जितनी कि अन्य वरिष्ठ साहित्यकारों के साथ। और यह संकोच एकतरफा भी नहीं। अज्ञेय जी प्रभा-मंडित होने के साथ अल्पभाषी भी हैं। उनकी अपेक्षा होती है कि उनसे बातचीत करने वाला उनसे व उनके लेखन से सुपरिचित होगा और उन्हें अपने लेखन के बाहर कम से कम कहना पड़ेगा।

मितभाषी होने के साथ वह मृदुभाषी भी हैं। अपनी कड़ी से कड़ी

प्रतिक्रिया भी कुछ इस तरह मंद मुस्कान व मृदु स्वर में व्यक्त करते है कि लगता है, प्रश्नकर्ता के नाते मैं ही बड़बोली हो रही हूँ। अक्सर ऐसा हुआ कि मेरे प्रश्न लम्बे रहे, उनके उत्तर छोटे। पर उन छोटे उत्तरों मे शब्दों की जितनी मितव्ययता होती, अर्थों की उतनी ही गहराई और विशालता। यही बात 8 नवम्बर 83 को उनसे ली गई ताजा औपचारिक भेंट के बारे मे भी कही जा सकती है। वातावरण में आत्मीयता, पर साक्षात्कार के समय उत्तर प्रश्नों की अपेक्षा संक्षिप्त। संक्षिप्त, किन्तु सारगर्भित। बातचीत मे संकोच, पर प्रतिक्रिया स्पष्ट नपी तुली दो-टूक।

श्री अज्ञेय सैनिक रहे, क्रातिकारी रहे। उसके बाद कवि, कथाकार, पत्रकार, निबंधकार, शैलीकार और चिंतक रूपो मे उभरते गए। वह सहज कवि हैं, सहज बोधगम्य नही। फिर भी उनकी कविता खूब पढ़ी ही नही, सुनी भी जाती है—अधिकतर सुधिजनो की गोष्ठियों मे। मंचीय कवि वह कभी नही हो सके, पर बड़े कवि सम्मेलनो के मंच पर भी जब बोलते है, पहले 'मैं सन्नाटा बुनता हूँ' तो सभा मे सन्नाटा छा जाता है और एक-एक कान उनकी ओर लग जाता है। उस समय यह तय कर पाना कठिन होता है कि होहल्ले और वाहवाही वाले सामान्य श्रोता-समूह पर उनके व्यक्तित्व का प्रभाव अधिक है या उनकी कविता का? उनके उपन्यास भी प्रचलित अर्थ में आम पाठक के लिए न होकर भी बहुपठित रहे। शायद ही कोई उपन्यास इतना पढा व याद रखा गया होगा, जितना कि 'शेखर : एक जीवनी'। भोगे यथार्थ की बात करने वालो को भी यह उपन्यास जैसे एक चुनौती है। लेकिन इधर कुछ वर्षो से उनके कवि और उपन्यासकार को पीछे छोड़, उनके भीतर का चिंतक उभर रहा है। चिंतक, जिस पर अति बौद्धिकता का आरोप है, लेकिन जो सहज प्रवाही और समय-सत्य-सापेक्ष-चिंतक है। जिसके लेखन में नवीनता के आग्रह के साथ समयानुसार संशोधन, परिवर्तन और विकास है, पर जो अपनी जड़ो से उखडा नहीं है। अपनी आस्था, अपनी अस्मिता के प्रति प्रतिबद्ध है। जिसके स्वाधीनचेता संस्कार भारतीयता के तत्व में सराबोर हैं।

इसी पृष्ठभूमि को ध्यान मे रखकर मैं कुछ प्रश्नो के लिए अपने को तैयार करती हूँ, "आपके सर्जक साहित्यकार पर आपका चिंतक हावी होता

जा रहा है, क्या आपको ऐसा नहीं लगता ? आप इसे उम्र का प्रभाव कहेंगे या अपने लेखन का विकास ?"

"दोनों ही बातें सत्य हो सकती हैं। विकास तो इसे निश्चित ही कहा जा सकता है, उम्र का तकाजा भी कह लीजिए। उम्र के साथ भावनाओं से क्रमशः उबरना स्वाभाविक ही तो है।"

"आपके पूर्ववर्ती लेखन पर विदेशी प्रभाव अधिक है (विदेशी साहित्य से बहुत कुछ लिया गया—यह आरोप भी अक्सर लगाया जाता रहा।) परवर्ती लेखन भारतीय संस्कृति व अध्यात्म से अधिक प्रेरित-अनुप्राणित है। इन दोनों स्थितियों को आप किस तरह संयुक्त करना चाहेंगे ?"

"संस्कृति की जड़ें तो पहले से पुख्ता थी। पिता संस्कृत के पंडित और पुरातत्व-विशेषज्ञ थे। शिक्षा का आरम्भ भी संस्कृत, फारसी द्वारा पुराने ढंग से ही हुआ था। फिर अध्ययन तो निरन्तर करता ही रहता हूँ। कहाँ से, कितना लिया, इसे ठीक-ठीक रेखांकित करना क्या सरल है ? मैंने जब लिखना शुरू किया, उस समय अन्य लेखक बाहरी साहित्य से अपेक्षाकृत कम परिचित थे। शायद इसीलिए उन्हें मेरे शुरू के लेखन पर बाहरी प्रभाव अधिक लगा होगा। वैसे प्रभाव तो हवा की तरह चारों ओर से आते ही हैं। प्राणवत्ता का प्रमाण है कि हम अपनी खिड़कियाँ खुली रखें। कहीं से कुछ भी लें, लेकिन अपनी शर्तों पर। अपनी संस्कृति की अस्मिता बनाए रखकर। रही इधर के लेखन में धार्मिक झुकाव की बात, तो यह भी कुछ लोगों का मुझ पर उसी तरह का आरोपण है, जैसे मेरे पूर्व लेखन पर विदेशी प्रभाव का। वास्तव में भारतीय संस्कृति और हिन्दू संस्कृति की यह विशेषता ही है—मत-वैभिन्य के बावजूद, उससे ऊपर उठकर मानवीय आधार पर ईश्वरत्व की खोज। ईश्वर को किसी एक रूप में न देखकर भी ईश्वरत्व की साधना और ईश्वर को न मानकर भी आस्तिक होना। मैं इसी रूप में आस्तिक हूँ और इसी भारतीय अस्मिता के साथ जुड़ा हूँ। अस्मिता की यह पहचान न कर पाने से ही हर बात को धार्मिक रंग दे दिया जाता है। अन्वेषी रूप में 'सियाराममय पथ पर जय जानकी जीवन यात्रा' एक जीवन्त परम्परा की खोज में लोकजीवन की ओर 'मानस यात्रा' ही कही जा सकती है।"

"आप अपनी इस आध्यात्मिक यात्रा को मानस यात्रा या विश्राम-यात्रा कह सकते हैं। लेकिन आज समाज में फिर से भारतीयता की ओर लौट के चिह्न यों भी दिखाई दे रहे हैं। मुझे लग रहा है कि जिस पढ़े-लिखे समृद्ध उच्च वर्ग ने पहले हमारा पश्चिमीकरण किया, वही अब भारतीयकरण भी करने जा रहा है। आप इस स्थिति को किस दृष्टि से देखते हैं ? और यह लौट जो अभी केवल नकल, फैशन या 'क्रेज' है, दिशाहीन न हो या तंत्रमंत्र और अंधविश्वासों की ओर ही न हो जाए, भारतीय अस्मिता से प्रेरणा लेकर एक निश्चित दिशा में हो सके, इसके लिए बुद्धिजीवियों व साहित्यकारों के दायित्व पर आप क्या कहना चाहेंगे ? अपनी जमीन या आदमी से जुड़ने की बात तो वे भी फिर से करने लगे हैं, चाहे साहित्य में कम, चर्चाओं में अधिक ?"

"हां चर्चाओं में ही अधिक। वास्तव में तो विगत दो दशकों में आधुनिकता के फेर में अपनी जमीन से कटे, आयातित विचारों का, अपठनीय, अलोकप्रिय साहित्य देकर खो दिए गए पाठक की पुनः तलाश ही है। अब भी केवल यथार्थ की बात करने से बात नहीं बनेगी। बहुसंख्यक पाठक को केवल उसके यथार्थ की पहचान कराने वाला साहित्य नहीं पढ़ाया जा सकता। अपना यथार्थ वह जानता है, उसे और जानकर अपना दुःख दर्द बढ़ाना नहीं चाहता। इसलिए उससे कतराता है या मनबहलाव के लिए हल्की फुल्की सनसनीखेज चीजें पढ़ना चाहता है। यथार्थ की बात वह तभी पढ़ेगा और पचाएगा, जबकि उसे उसका यथार्थ दिखाने के साथ उसका सामना करने की सामर्थ्य भी दी जाए या उसे उससे निकलने का उपाय भी बताया जाए। यानी अपने यथार्थ व अपने अन्तर्विरोधों का सामना करने की पाठक को भीतरी शक्ति बढ़ानी होगी, अन्यथा उसे सहज पठनीय मनोरंजक साहित्य देना होगा। नए लेखन में यह पहचान हो तो खोए रास्ते की ओर लौट का संकेत या यात्रा का नया मोड़ माना जा सकता है। अभी तो ऐसा दिखाई नहीं देता। आम आदमी से जुड़े बिना आम आदमी की बात करना भी एक अन्तर्विरोध ही है।""""और बातें छोड़िए, दो-तिहाई अनपढ़ जनता के बीच हमारे यहां तो किताब लिखने-छपाने के बीच भी अन्तर्विरोध है। इन तमाम अन्तर्विरोधों का सामना करना है पहले।

"इसी तरह फिर से भारतीय नामों, हस्तरेखाओं, सज्जा उपकरणों, फैशन सामग्रियों आदि की पसंद के पीछे भी सही पहचान की उत्सुकता नहीं लगती। हां यह मोह भंग की स्थिति जरूर है। पश्चिम को भी अपनी संस्कृति से मोहभंग हो चुका है। पर उनकी स्थितियां दूसरी हैं, अतः उनकी चिंताएं भी दूसरे प्रकार की होंगी। अपनी इस मोहभंग की स्थिति में वे जब पूर्व की ओर निहार रहे हैं तो उनकी नकल में हम भी इधर चल पड़े है। इस तरह एक ओर यह प्रवृत्ति 'नकल' है या 'फैशन' दूसरी ओर विज्ञापन सभ्यता की देन, जो हर नये चलन को भुनाना जानती है। मैं मानता हूं, यह प्रवृत्ति है और दिशाहीन है। पर दिशा देने के लिए क्या होना चाहिए या चिंतकों साहित्यकारों का क्या दायित्व है, इस पर कुछ न कहकर मैं केवल यही कहूंगा कि ऐसी स्थिति में जब लोग भीतर से दोहरी मानसिकता के शिकार हों, 'कहीं कुछ गलत हुआ है,' इस अपराध-चेतना या दुविधापूर्ण स्थिति से घिर आए हों, तब उन्हें कुछ सुनाया, बताया जा सकता है। उनकी तलाश को राह दी जाए तो वे सुनेंगे जरूर। लेकिन जरूरत है, उन्हें दो विरोधी चीजों की पहचान कराने की। निश्चय ही इसमें भीतरी तनाव बढ़ेगा। इस तनाव से बचने के लिए ही कुछ लोग पलायनवादी हो जाते है या किसी उत्तेजना सनसनी में सुकून तलाशने लगते है। लेकिन निखार भी तनाव से बचकर नहीं होगा। न इसे पहचाने बिना अपनी पहचान ही बनेगी।"

"आज के अति सेक्स और विकृत सेक्स के बन आए इस माहौल, जो हिंसा, बलात्कार, हत्या, आत्महत्या, तलाक आदि विघटन की तमाम स्थितियों के पीछे एक प्रमुख कारण है, के लिए आप किन्हें उत्तरदायी मानते हैं। और वातावरण की शुद्धि किन उपायों में देखते है ?"

"मुख्य दोष तो शासकीय नीतियों और नीतिविहीन स्थितियां पैदा करने वाले रहनुमाओं का ही है। संसार भर में फैली इस हवा के प्रभाव कुछ हद तक तो अनिवार्य थे, व्यावसायिक सभ्यता के प्रभाव से आज सारे संसार में लगभग यही स्थिति है। पर इस हद तक जाने से उन्हें अवश्य रोका जा सकता था। हमारे सामने एक रास्ता गांधीजी का था, अपरिग्रह द्वारा आत्मनिग्रह का रास्ता। हमने वह छोड़ा और दूसरा रास्ता अख्तियार किया, पश्चिम की भोगवादी उपभोक्ता-संस्कृति का रास्ता। जब हम पश्चिम की नकल में चल पड़े हैं तो इसके परिणाम में कैसे बच सकते है ? अब तो

लगता है, इसी चक्र से घूमकर लौटेंगे। इस परिणाम से बचने का दूसरा उपाय है, अपने अन्तर्विरोधों का व्यापक स्तर पर सामना करना। लेकिन इसके उपयुक्त वातावरण तैयार करने के बजाय, पत्र-पत्रिकाओं व अन्य प्रचार-माध्यमों का ध्यान केवल सनसनी फैलाकर अपनी बिक्री बढ़ाने की ओर है। तो मैं कहूंगा कि इस स्थिति के लिए अखबारें भी कसूरवार हैं, जो एक ओर हिंसा, अश्लीलता के खिलाफ आवाज उठाती है, दूसरी ओर अपनी बिक्री के लिए इन स्थितियों को भुनाती भी है।"

"आज की स्थिति के संदर्भ में और अपने लिए जीवन के संदर्भ में विवाह संस्था को तोड़ने या बनाए रखने की चर्चाओं पर भी कृपया कुछ कहेंगे ? क्या तोडना सम्भव है ? सम्भव हो, तो भी क्या उसमें एक अराजकता की स्थिति नहीं पैदा होगी और यौन-नैतिकता के किन्हीं नियमों के अभाव में समाज में स्त्रियों की असुरक्षा नहीं बढ़ेगी ?"

"जब तक हम एक रूढ़ माडल या पश्चिमी माडल सामने रखे रहेंगे, परिणाम वैसे ही होंगे। मैं नहीं मानता कि वही माडल हो सकता है। अपना माडल पाने के लिए अपनी स्थितियों का सामना स्वयं ही करना पड़ेगा.... नहीं मैं यह भी नहीं मानता कि अपना माडल पाने की बात एक विशिष्ट वर्ग के लिए ही है, पूरे भारतीय समाज, पूरे हिन्दू समाज पर भी यह लागू हो सकती है। यों भी देखा जाए तो वर्तमान नैतिक मान्यताएं केवल मध्य वर्ग के लिए ही है। निम्न वर्ग और उच्च वर्ग इस मामले में कभी समस्या-ग्रस्त नहीं रहे। स्थितिशील मध्य वर्ग ही रूढ़ मान्यताओं को झेलता और स्थिर रखता है।"

"आम बुद्धिजीवी क्या मध्यवर्ग में ही नहीं ? कथित प्रगतिवादियों ने भी पुराने मूल्य ही तोड़े हैं, नए मूल्यों की रचना नहीं की। क्या इसीलिए यह 'वैक्यूम' नहीं दिखाई देता ?"

"तो यही चुनौती क्यों न सामने रख ली जाए ? मूल्य बनाने की बात में ही माडल बनाने की बात का उत्तर मिल जाएगा। मुख्य बात है, अपने अन्तर्विरोधों का सामना। आभ्यन्तर संसार की चर्चा करना स्थितियों से भागना नहीं, भीतरी यथार्थ का सामना करने की सामर्थ्य जुटाना है।"

"आपने विभिन्न क्षेत्रों में कार्य किया है, इससे अपने सृजन में आपने

कभी व्यवधान नहीं पाया ? सृजनात्मक लेखन और सैनिक, क्रान्तिकारी, पर्यटक, अध्यापक, पत्रकार की अपनी भूमिकाओं में सामंजस्य कैसे बिठा पाए ?"

"विविध क्षेत्र अनुभव को भी समृद्ध करते हैं, बोलचाल का संस्कार देकर भाषा को भी निखारते हैं, इसलिए लेखन में सहायक ही होते हैं, बाधक नहीं। केवल दैनिक पत्रकारिता के दिनों ही मैंने कुछ व्यवधान पाया, क्योंकि एक संपादक से दैनिक पत्र की अपेक्षाएं अलग तरह की होती है।"

भावनाओं के उद्वेग में भी अज्ञेय जी का विवेक दीप-स्तम्भ सा खड़ा उनका पथ निर्देश करता रहता है। उनका आत्मसजग लेखक शब्द और अर्थ के बीच क्षण-क्षण उत्सर्जित तनाव को बराबर बनाए रखता है। इस तनाव को निरन्तर झेलते हुए ही तो रचना परिपूर्ण हो पाती है। यह जानते हुए भी मैंने पूछ लिया, "अनुभूति के तन्मय क्षणों में भी आप अपने लेखन में इतने आत्म सजग कैसे रह पाते हैं कि शब्दों के चयन और शैली के कलापक्ष पर पकड़ ढीली न हो ?"

वही संक्षिप्त-सा उत्तर, "लिखते समय आत्मानुशासन तो रहना ही चाहिए।" और बस।

आत्मानुशासन की बात पर उन्हें मिले बड़े पुरस्कारों पर उनकी प्रतिक्रिया भी जाननी चाही, "आपको 'भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार' 'कितनी नावों में कितनी बार' पर मिला। क्या आपकी दृष्टि में भी इस कृति का चयन सही था ? इधर यूगोस्लाविया के सर्वोच्च पुरस्कार 'स्वर्णमाला' से भी आपको सम्मानित किया गया है। और आपके नाम के साथ जो 'नोबल पुरस्कार' की चर्चा जुड़ती रही है, उसके बारे में कुछ कहेंगे ?"

"पुरस्कार किस कृति पर दिया गया, इसके निर्णय पर मैं कैसे कुछ कह सकता हूं ? वैसे शायद आप जानती हैं कि उसके पूर्व 'आंगन के पार द्वार' कृति चुनी गई थी और फिर उस वर्ष कारणवश पुरस्कार रह गया था। रही 'नोबल पुरस्कार' की चर्चा की बात, तो वह केवल एक वर्ष ही सुनाई दी और वह अफवाह मात्र नहीं थी। मेरा नाम 'नोबल फाउंडेशन' के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किया गया था।....वैसे पुरस्कारों का महत्व मैं इस बात से नहीं मानता कि उसके साथ रकम या सुविधा क्या मिलती है। महत्व इस

बात का होता है कि किन लोगों के निर्णय से यह पुरस्कार दिया गया और किसी कृति पर निर्णय करते समय उनकी दृष्टि कहाँ तक प्रामाणिक रही।"

उत्तरों में ही नही, उनके पूरे लेखन में भी शब्दों की यह मितव्ययता बरती गई है। लेखन-परिष्कार के साथ उनके व्यक्तित्व में, रहन-सहन की शैली में भी एक परिष्कार है। अभिजात्य का संस्कार भी कह सकते हैं। लेकिन उनके लेखन पर अति बौद्धिकता का, उनके व्यक्तित्व व अभिजात्य व्यवहार पर अभिजात्य की श्रेष्ठता-ग्रंथि या श्रेष्ठत्व के अहम् का आरोप भी लगता रहा है। शायद उनके 'अपने अपने अजनबी' का प्रादुर्भाव भी इसी से हुआ हो। लेकिन किसी भी सधे व्यक्तित्व के अनबिके, स्वाधीन चेता साहित्यकार के साथ यह स्थिति अस्वाभाविक नही। व्यक्तित्व मे कुछ अन्तर्विरोध भी आज के जीवन की नियति है। इस सबके बावजूद, वात्स्यायन जी ने जीवन को विविध आयामों मे भरपूर जिया है। उससे भरपूर पाया है और उसे भरपूर लुटाया भी है। आज भी वह एक भरापूरा जीवन जी रहे हैं। महानगर मे रहकर भी उसके कोलाहल से अलग, एक शात, मनोरम स्थली मे उनके निवास-स्थान की सुविधा-सम्पन्न व सुरुचिपूर्ण साजसज्जा देखकर मन एक गर्वमिश्रित संतोष से भर उठता है कि हमारे देश का भी एक वरिष्ठ साहित्यकार इस ढंग से रह सकता है। पश्चिम मे लेखकों की आर्थिक समृद्धि और सुरुचि-सम्पन्नता अपवाद न हो, भारत मे निश्चित ही यह अपवाद है। इसका एक प्रमाण 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' से प्राप्त राशि से 'वत्सल निधि' की स्थापना भी है, जिसके कार्यकलाप अब उन्हे एक सस्था रूप मे भी स्थापित करते जा रहे है—पूर्व प्रभामडल का और विस्तार।

देश-विदेश मे गोष्ठियो, सेमिनारो और सभा-सम्मेलनों में अज्ञेय जी की उपस्थिति एक उपलब्धि मानी जाती रही है और दुरूहता के आरोप का खडन करते हुए यह प्रभाव आगे और विस्तार पाता हुआ नक्षत्र-किरणों-सा चारो ओर विकीर्ण हो रहा है। कितने छात्रों ने उन पर शोध की, कितने नए लेखकों ने उनसे प्रेरणा ली और उन पर कितना लिखा गया, इसका कोई हिसाब नही। पर उनसे पूछिए, वही सक्षिप्त-सा उत्तर मिलेगा—'मैं इस पर क्या कहूँ, 'आप जानिए'। या कहेंगे, 'स्वाभाविक विकास-क्रम'।

अपनी-यात्रा मे क्रातिदल मे संबद्धता, जेलयात्रा, सेना, आकाशवाणी, पत्रकारिता, विदेश मे अध्यापन आदि अनेक मोर्चों पर जूझने वाले अज्ञेय जी

अपनी मानसिक यात्रा में निरन्तर साहित्यकर्मी बने रहे हैं। 'शेखर एक जीवनी' के लेखन और 'तार सप्तक' के सम्पादन से उन्होंने प्रारम्भ से ही जो प्रतिमान स्थापित किए, उनमें आगे और बढ़ोत्तरी ही हुई। आधुनिक हिन्दी साहित्य को नई दिशा-दृष्टि देने वालों मे उनका नाम अग्रणी है। प्रयोगवादी कविता के तो जन्मदाता ही माने जाते हैं। नए विचारों के साथ नए शब्दों का रिश्ता जोड़ने में उन्होंने जो महारत हासिल की है, उसकी झलक उनकी किताबों के शीर्षकों से भी मिलती है :

'नदी के द्वीप,' 'अपने-अपने अजनबी,' (उपन्यास)' छोड़ा हुआ रास्ता,' 'विपथगा,' 'अछूते फूल,' 'मे तेरे प्रतिरूप,' 'अमर वल्लरी,' 'लौटती पगडंडियां,' (कहानी) 'हरी घास पर क्षण भर,' 'आगन के पार द्वार,' 'कितनी नावों में कितनी बार,' 'क्योंकि मैं उसे जानता हूं,' 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूं,' 'बावरा अहेरी,' 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये,' 'अरी ओ करुणा प्रभामय,' 'सुनहरे शैवाल,' 'महावृक्ष के नीचे,' 'नदी की बांक पर छाया,' (कविता) 'एक बूंद सहसा उछली,' 'शाश्वती,' 'भवन्ति,' 'जय जानकी जीवन यात्रा' (यात्रा) 'कहां है द्वारका,' 'स्रोत और सेतु,' 'आत्मनेपद,' 'लिखि कागद कोरे,' 'अन्तरा' 'आलवाल,' 'युग संधियों पर,' 'आयतन,' (निबन्ध) 'स्मृति लेखा' (संस्मरण) आदि लगभग 50 पुस्तकें।

सच्चिदानद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय का जन्म 7 मार्च 1911 को कसैया (जिला देवरिया, उत्तरप्रदेश) में हुआ। बी. एससी. करने के बाद सन् 30-34 में क्रांतिकारी गतिविधियों में भाग लेकर जेल गए। 39-42 मे 'विशाल भारत' का सम्पादन करने के बाद 42-46 द्वितीय महायुद्ध में सक्रिय रहे। 46-52 में 'प्रतीक' का सम्पादन किया और 55-56 में आकाशवाणी के भाषा सलाहकार रहते हुए 'थॉट' के साहित्य सम्पादक भी रहे। 61-64 युनिवर्सिटी आफ कैलिफोर्निया बर्कले में विजिटिंग प्रोफेसर के नाते अध्यापन-कार्य करने के बाद 69-70 में फिर वही प्रोफेसर रहे। साहित्य अकादमी पुरस्कार उन्हें 'आंगन के पार द्वार' (कविता संग्रह) पर 1962 मे मिला, 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' 'कितनी नावों में कितनी बार' कविता संग्रह पर 1982 में, और यूगोस्लाविया का सर्वोच्च पुरस्कार 'स्वर्णमाला' 1983 मे। इस पुरस्कार के बाद अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के साहित्यकार अज्ञेय

की ही ख्याति और नहीं बढ़ी, हिन्दी भी विश्व-मंच पर सम्मानित हुई।

पर 'शोर के संसार में मौन ही भाषा' को जीवन-सिद्धांत बनाने वाले अज्ञेय जी को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति भी अपने से बाहर लाकर अधिक मुखरित नहीं कर पाई। 'वत्सल न्यास' के बाद स्वयं में एक संस्था होकर भी वह संस्था-प्रतीक अन्य व्यक्तियों से एकदम अलग-थलग हैं। इसके पीछे उनका अभिजात्य संस्कार तो है ही, शुद्ध अनुभूतियों का दृढ़ बौद्धिक आधार भी है। यहीं पर उनकी असीम आभ्यंतर शक्ति से दूसरों को रश्क होता है। यहीं पर वे अबूझ 'अज्ञेय' हैं। यहीं पर अपने सांस्कृतिक धरातल पर टिके 'अपने अजनबी'। एक मूर्धन्य साहित्यकार ही नहीं, एक विलक्षण व्यक्तित्व भी।



कुंठारहित, मानवीय मूल्यों को समर्पित साहित्यकार

विष्णु प्रभाकर



सन् 1953-54। न्यूयार्क के 'हेराल्ड रिव्यू' की ओर से आयोजित 'तृतीय विश्व कहानी प्रतियोगिता' के लिए दैनिक हिन्दुस्तान ने हिन्दी कहानियां आमंत्रित की थी। कुल 700 कहानियां प्रतियोगिता के लिये आईं, जिनमें से 65 कहानियां पुरस्कृत हुईं। श्री विष्णु प्रभाकर की कहानी 'शरीर से परे' को हिन्दी में प्रथम पुरस्कार तथा 17 देशों की चुनी गई कहानियों में द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार मिला था। कहानी की देश-विदेश में व्यापक चर्चा हुई थी।

उन दिनों मैं मध्यप्रदेश की महू छावनी में निवास करती थी। लेखन में अभी नया-नया कदम रखा ही था। इसलिए साहित्यकारों की कृतियां पढ़ने और उन पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने का चाव बढ़ा चढ़ा था। तभी पुरस्कृत कहानी 'शरीर से परे' ने मुझे इतना प्रभावित किया कि उसी झोंक में मैंने अपरिचित होते हुए भी लेखक को एक लम्बा-सा प्रशंसा-पत्र लिख दिया। पाठकीय पत्रों के उत्तर की प्रायः अपेक्षा नहीं की जाती। लेकिन विष्णु-जी का तुरन्त उत्तर आया, जिसमें मेरा परिचय भी मांगा गया था। मेरे लिये यह एक प्रसन्नता और गौरव का अवसर था।

इसके बाद कभी कभार कुछ पत्रों का आदान-प्रदान और विष्णुजी मेरे बड़े भाई बन गये। एक बार अपनी मांडव-यात्रा के लिए महू से गुजरे, तब वहां उतर कर अचानक मेरे घर आना भी नहीं भूले। श्री यशपाल जैन

के साथ अचानक उन्हें अपने घर पर देख कर मैं गद्‌गद् हो उठी थी। लेकिन मेरे लिए ही यह आश्चर्य और हर्ष की बात हो सकती थी, विष्णुजी के लिए नहीं। आज देखती हूँ, लगभग हर नगर में उनके प्रशसक पाठक हैं और किसी भी पाठक का आग्रह वह शायद ही टालते हो! अति व्यस्तता के बीच भी उनके घर के दरवाजे किसी भी जिज्ञासु के लिए हर समय खुले रहते हैं और वह अपने मे बंद-बंद रहते हुए भी सबके साथ एक सहज भाव से मिलते है। उनका यह मानवीय रूप उनके साहित्यकार को तो ऊंचा उठाता ही है, कही उस पर हावी भी हो जाता है।

सन् 1957। अपनी दिल्ली-यात्रा के समय जब मैं अपनी पहली पुस्तक किसी प्रकाशक के लिये लेकर आयी तो पांडुलिपि लेकर सीधे विष्णु जी के घर ही पहुंची थी, क्योंकि अपने रिश्तेदारो के अलावा दिल्ली मे तब अन्य किसी लेखक—साहित्यकार से मेरा परिचय नही था। सुशीला भाभी ने मुझ अपरिचित का भी ऐसे स्वागत किया जैसे मुझे पहले से जानती हों। यह उनका सहज गुण था। विष्णुजी ने पाडुलिपि देखी और तुरन्त आत्माराम एण्ड सन्स का नाम सुझा दिया। मैं उनके यहा से सीधे इस प्रकाशक के पास पहुंची। जैसा कि विष्णुजी ने कहा था कि यह प्रकाशक इसे देखते ही ले लेगा, वही हुआ और मैं पुस्तक अनुबंधित करके वापस लौट गई।

सन् 1959। मैं मध्यप्रदेश छोड़कर दिल्ली आ बसी। कभी उनके घर, कभी मेरे घर, तो कभी बाहर साहित्यिक-गोष्ठियो मे विष्णुजी से अक्सर मुलाकात होती रही। मैं उन्हें राखी बाधती रही और सुशीला भाभी मुझे सगी ननद जैसा प्यार, सम्मान व नेग तक देती रही। उनके घर मे जब कभी जाती तो वातावरण इतना घरेलू हो उठता कि साहित्य-चर्चा के लिए अवसर ही नही रहता। विष्णुजी वैसे भी मितभाषी है। कम से कम बोलते हैं। बात का सक्षिप्त उत्तर देते है और बहुत कुछ बिना कहे ही कह देते है। मैं भी अधिक बोलने की आदी नही रही। पर विष्णु जी का संकोची स्वभाव मेरा संकोच और बढा देता और मेरी रही सही बोलती भी बंद हो जाती। अधिकतर बात सुशीला भाभी ही करती। आग्रह से खिलाती-पिलाती। फिर मतलब की संक्षिप्त बातचीत कर, खा-पीकर मैं लौट आती।

दिल्ली आकर लगातार आर्थिक सकट से गुजरते हुए लेखनजीवी के

रूप में मैंने लेखन व पत्रकारिता में अपना स्थान बनाया। विष्णुजी भी लगभग दो वर्ष आकाशवाणी की नौकरी करने के बाद स्वतंत्र लेखन से ही आजीविका चला रहे थे। लेकिन भाई-बहन का रिश्ता बनाकर भी हमने कभी आर्थिक संघर्ष के इस विषय को बीच में आने नहीं दिया। न उन्होंने कभी पूछा, न मैंने बाहर कहीं उनके नाम या सम्पर्क का लाभ उठाया। विशुद्ध मानवीय स्तर पर जुड़े रिश्ते की गरिमा तभी कायम रह सकी—स्नेह के आदान प्रदान के बावजूद पूरी तटस्थता के साथ। यह भी विष्णुजी के व्यक्तित्व का एक सहज गुण है, आज के युग में अनुकरणीय। मैं समझती हूं, यह प्रतिक्रिया मेरी ही नहीं, उनके सम्पर्क में आने वाले और उनसे जुड़े सभी लोगों की है। वह सभी के लिए सहज आत्मीय हैं और उतने ही सहज भाव से तटस्थ भी।

राम-बनवास वाले लम्बे 14 वर्षों तक वह 'आवारा मसीहा' के लिए कैसे जुटे रहे, कहां-कहां भटकते रहे, इसकी कुछ-कुछ साक्षी मैं भी हूं। जब कभी मिलना होता, वह अपने सारे लेखन की बात छोड़कर, प्रायः उसी की बात करते। अपनी खोज के अनुभव सुनाते। और अब कुछ वर्षों से मैं देख रही हूं कि 'आवारा मसीहा' ने सचमुच उनके सारे लेखन को एक तरफ कर दिया है। वह नाटककार, कथाकार के रूप में कम और ''आवारा मसीहा' के लेखक के रूप में अधिक जाने जाने लगे हैं। इस कृति पर उन्हें ढेरों सम्मान-पुरस्कार भी मिले। यों इसके अलावा भी उनकी 'स्वप्नमयी' 'संघर्ष के बाद' 'धरती अब भी घूम रही है,' 'कुछ शब्द कुछ रेखाएं', आदि कई कृतियां पुरस्कृत हो चुकी हैं। 'धरती अब भी घूम रही है' उनका एक बहुचर्चित कहानी-संग्रह है।

विष्णु प्रभाकर सुस्थापित नाटककार हैं। कहानी, उपन्यास, नाटक, रेखा-चित्र, यात्रा-वृत्तांत, जीवन चरित्र—सभी कुछ उन्होंने लिखा है। 70 वर्ष की आयु में उनकी लगभग 70 पुस्तकें व पुस्तिकाए आ चुकी है। यह इनके लेखकीय जीवन का प्रमाण है। 'शरीर से परे' के अलावा 'गृहस्थी' शीर्षक उनकी कहानी ने भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में पुरस्कार जीता था। नवसाक्षरों और बच्चों के लिए भी उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें से कुछ शासन द्वारा पुरस्कृत हैं। 'नवप्रभात' नाटक भी महाराष्ट्र प्रशासन से

दो बार पुरस्कृत हुआ। वह कहते हैं, 'जो कुछ मैं लिखता हूँ, मुझे वह सब प्रिय है'।

उन्हे मिले विशेष पुरस्कारों व सम्मानों में 'राष्ट्रीय एकता पुरस्कार' हरियाणा साहित्य अकादमी का 'सूर पुरस्कार', नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी द्वारा ताम्रपत्र-सम्मान, 'इण्टरनेशनल ह्यूमेनिस्ट अवार्ड,' 'सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार,' 'इंडियन राइटर्स एसोसिएशन' द्वारा 'पाब्लो नेरुदा सम्मानम' तथा 'आवारा मसीहा' पर साहित्य कला परिषद दिल्ली का साहित्य पुरस्कार उल्लेखनीय है। जून 1983 में उनके 71 वें जन्मदिन पर 'संचेतना' पत्रिका का विष्णु प्रभाकर विशेषांक निकाला गया और उनका सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया।

अनेक साहित्यिक संस्थाओं से अग्रणी रूप में जुडे रहने और काफी हाउस की गोष्ठियो मे निरन्तर उपस्थित रहने वाले विष्णु प्रभाकर स्वभाव से एक घुमक्कड प्रकृति के है। जब भी समय मिला, सुविधा मिली कि यात्रा पर चल दिए। लगभग सारा भारत घूम आये। रूस, नेपाल, बर्मा, थाईलैंड, कम्बोदिया, वियतनाम, सिंगापुर, मलाया, मारीशस की यात्राएं भी वह कर आये। पर उनकी प्रवृत्ति अधिकतर पहाड़ी क्षेत्रों मे प्रकृति के बीच घूमने तथा जन-जन के बीच जाकर प्रत्यक्ष अध्ययन करने की है। काफी हाउस मे बैठे भी वह बोलते कम रहे, सुनते और गुनते अधिक रहे। सही अर्थों मे अपनी प्रिय सहचरी सुशीला को खोने के बाद इधर तो उनकी यह घुमक्कड़ प्रवृत्ति और बढ गई है। घर पर बहुत कम रहते है। जहां से बुलावा आये, वही चल देते हैं। 'आवारा मसीहा' ने उन्हें इतनी प्रसिद्धि, इतनी लोकप्रियता प्रदान की है कि देश के कोने-कोने से उन्हे निमंत्रण मिले हैं और उनके भीतर का सहज मानव अपने स्वास्थ्य तक की परवाह न करते हुए सभी ओर उमड़ पडता है। फिर भी जहा कुछ दिन टिके कि एक नयी किताब आयी। निरन्तर लेखन की उनकी आदत, कर्मठता और प्रकाशकों की मांग, सभी बातें इसके पीछे हैं।

गत वर्ष भोपाल में 'हिन्दी भवन' द्वारा आयोजित 'पीढ़ियों का द्वन्द्व' विषयक एक साहित्यिक गोष्ठी मे संयोग से मैं भी उपस्थित थी। गोष्ठी में इस द्वन्द्व पर बहुत से विचार आये। पर अंत में विष्णु जी ने जो संतुलित विचार दिये, उन्हे सुनना सभी के लिये एक सुखद अनुभव था। उन्होंने कहा,

विचारों की टकराहट अवश्यंभावी है। सतयुग में द्वन्द्व कम था, त्रेता में बढ़ा, द्वापर में बहुत ज्यादा हो गया और अब तो सीमा पार कर चुका है। नयी पीढ़ी एक उथलेपन के साथ अपने लिए जगह बनाने को बेताब है। युवा लेखक पुराने लेखकों को चुका हुआ कहते हैं। पर बात ऐसी नहीं है। यह उनकी एक विरोधात्मक प्रवृत्ति है। नये लेखकों को परिश्रम से अपनी जगह खुद बनानी चाहिए।' फिर उन्होंने मुस्कुरा कर कहा, 'मैं चुका हुआ भले ही समझा जाऊँ, पर बिका हुआ कभी नहीं।' सचमुच उनका सादगी भरा संघर्षशील जीवन, उनका संतुलित लेखन और उनका स्वतंत्र चेता व्यक्तित्व इस बात के गवाह हैं। उन्हें उदात्त स्वभाव का ऐसा प्रपंचहीन लेखक माना जाता है, जिसका कोई विरोधी नहीं। अपनी बात को उन्होंने आगे बढ़ाते हुए कहा, हर पीढ़ी का ज्ञान, चिन्तन, जीवन मूल्य, नजरिया अलग-अलग होता है। जहां कोई समझदार प्रमुख है, वहां द्वन्द्व जैसे तैसे थाम लिया जाता है, अन्यथा आज अधिकतर घरों में हर दो व्यक्ति एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं, रिश्ता उनमें चाहे जो भी हो।'

पर निकट से देखने के कारण मैं जानती हूँ कि विष्णु जी के सधे व्यक्तित्व, इन संतुलित विचारों और आज के कुंठा, सन्त्रास, हताशा वाले माहौल में भी मानवीय मूल्यों से जुड़े उनके आस्थामय लेखन के पीछे एक मानवोचित सामाजिक तथ्य यह भी है कि उनके घर में संयुक्त परिवार की तीन पीढ़ियां एक साथ मिलजुल कर रहीं। मां के संस्कार, अपने बड़े भाई की छत्रछाया, पति के ध्येय को समर्पित व हर सुख-दुख की सहभागिनी पत्नी की प्रेमिल देखभाल और बच्चों की किलकारियों से भरे पूरे परिवार के बीच रह कर ही ऐसे महान व्यक्तित्व बनते हैं। आज ऐसा पारिवारिक वातावरण कितनों को नसीब है? विष्णु जी के अनुसार भी, "मैं इस मामले में खुशकिस्मत रहा हूँ। आज जो कुछ हूँ, अपनी मां के कारण हूँ। मां की बड़ी इच्छा थी, मैं कुछ बनूं। कर्मठता और परिवार में निभाव की आदत भी उन्होंने ही डाली। फिर पत्नी की प्रेरणा और सहयोग भी मुझे निरन्तर संभाले रहा। तभी इतना लिख सका, वर्ना ....।' सचमुच जो विष्णु प्रभाकर किसी लेखकीय या आर्थिक संघर्ष में नहीं टूटा, वह बड़े भाई और पत्नी की लगभग साथ-साथ मृत्यूपरांत कुछ समय के लिए अवश्य कुछ टूट-बिखर गया था। उसी मनःस्थिति में मुझे लिखा गया उनका एक पत्र है, "अभी तक इस स्थिति

को स्वीकार ही नहीं कर पा रहा हूँ। घर से जुड़ा था, सुशीला के माध्यम से और बाहर से जुड़ा था, बड़े भाई के द्वारा। दोनों एक साथ गए तो लगा जैसे एकदम किसी ने उठा कर वीराने मे फेंक दिया हो। 'पर इस उद्विग्नता से भरे-भरे मन को पत्नी से जुड़े अपने संस्मरणों में उंडेल कर वे फिर हल्के हो आए हैं। समय सब के घाव भरता है, साधक के कुछ जल्दी ही। पत्नी की याद मे उनकी बरसी पर उन पर प्रकाशित विष्णु जी की संपादित पुस्तक 'शुचि स्मिता' हिंदी में अपने ढग की अकेली कृति है। प्यार के स्मरण व कृतज्ञता-ज्ञापन की एक अद्भुत मिसाल।

विष्णु प्रभाकर का जन्म 21 जून, 1912 को मीरपुर, जिला मुजफ्फर-नगर, उत्तर प्रदेश में हुआ। 1924 में वे मामा के पास हिसार चले गए। वही 1929 मे मैट्रिक पास किया। उसके बाद छोटी मोटी नौकरी करते हुए ही बी. ए., हिन्दी प्रभाकर, प्राज्ञ आदि परीक्षाएं पास की। नियमित लेखन 1934 से प्रारभ हो गया था। साहित्यिक प्रेरणा के बारे में पूछने पर उनका उत्तर था, 'मेरा परिवेश। दरअसल प्रारम्भिक अवस्था मे मुझे वह जीवन जीना पड़ा, जो मैं जीना नहीं चाहता था। उसकी प्रतिक्रिया में अन्तर्द्वन्द्व उपजा और उससे लेखन। बचपन से ही पढने का शौक था। 'चन्द्रकांता संतति' से लेकर प्रेमचंद, प्रसाद, बकिम, रवीन्द्र, शरद सभी को पढ़ गया। विशेष प्रभावित किया शरद ने। फिर टामस हार्डी, डिकन्स, टालस्टाय, तुर्गनेव, चेखव, दास्तोयवस्की, गोर्की ने भी। लेखक बनने की चाह भी इन्हें पढ़ने के पीछे कही दबी रही होगी। शुरू में आर्य समाज के संयम, अनुशासन प्रिय, सुधारवादी दर्शन का प्रभाव भी मुझ पर पड़ा। मनुष्य के संस्कार मे घर-परिवार, परिवेश, अध्ययन, संपर्क सभी का हाथ होता है और उसके संस्कार का लेखकीय सस्कार के निर्माण मे भी थोडा-बहुत हाथ रहता ही है। शायद मेरी क्रांति-कामना इसलिए उग्र नही हो सकी होगी।" अपने बारे मे वे निश्चित रूप से कभी कुछ नही कहते, दूसरे स्वयं उनके बारे मे जानें, समझें, इसकी गुंजाइश छोडते है और उन्हे इसकी पूरी स्वतंत्रता देते हैं।

सादगी की, खद्दर की टोपी की इज्जत नही रही, पर विष्णु जी ने उसे नही छोड़ा। मानवीय मूल्य बिखर गए, विष्णु जी उन्हें यथा-सभव थामे रहे। उनका लेखन कभी अनास्थावादी नही हो पाया। पुरानी मान्यताओं

को तहसनहस करने वाली रचनाएं लिखी गईं, विष्णु जी प्रगति को राह देते हुए, असहमति का अधिकार मानते हुए और युवा पीढ़ी का साथ देते हुए अपने लेखन में एक संतुलन बनाए रहे। यही कारण है कि वह हर पीढ़ी के साथ रहे, चले। 'यह अस्थाई दौर है, हमारा संस्कार नहीं' उन की यह मान्यता रंग लाई और भारतीय साहित्य फिर से शाश्वत भारतीय मूल्यों की खोज की ओर अग्रसर हुआ। मानवीय मूल्य ही शाश्वत मूल्य होते है और मानवता में आस्था रखना ही साहित्य में शाश्वत मूल्यों की स्थापना करना है। विष्णु जी का लेखन निरन्तर इसी पथ का खोजी रहा। इसलिए वह निरन्तर स्थापित रहे।

नई पीढ़ी के लिए उनका संदेश है, "नया, पुराना कुछ नहीं, हर लेखक अपने समय में नया होता है। व्यवस्था हर नए-पुराने को तोड़ती है। पर आप व्यवस्था से नहीं, मानवीय मूल्यों से जुड़ें। स्वतंत्र चिन्तन करें, स्वतंत्र लेखन। लेखक 'तीसरी आंख' है। यह आंख हमेशा खुली रहनी चाहिए। यही लेखक की अपने प्रति व समाज के प्रति प्रतिबद्धता है।" मसिजीवी के नाते उनके विविध लेखन में बिखरे ये केन्द्रीय विचार ही उनके साहित्य को शाश्वत व उन्हें अमर बनाने के लिए पर्याप्त हैं, यदि कोई इन्हें केन्द्रीभूत करके सामने ला सके।



कविता के शलाका पुरुष
भवानीप्रसाद मिश्र



महादेवी वर्मा को ज्ञानपीठ पुरस्कार। डा. लक्ष्मीमल सिंघवी के घर एक आत्मीय मिलन गोष्ठी जमती है, और हर बार की तरह इस बार भी भवानी भाई को सुनना एक सुखद अनुभव हो जाता है :

कुछ लिख के सो, कुछ पढ के सो,
तू जिस जगह जागा सवेरे,
उस जगह से बढ के सो।

इतनी सरल भाषा, इतना सहज प्रवाह और इतनी गहरी बात। ऐसा उद्बोधन। भवानी भाई अपनी कविता में आम आदमी के सुख-दुख, खुशी-नाखुशी, उत्थान-पतन की बात कहते हैं। पर उसे अकेला, असहाय ही नहीं छोड़ देते।

श्री अज्ञेय के शब्दों में, आम आदमी का दुख-दर्द ही उसे मत बताइये। यह सब वह जानता है। उसे संघर्ष में डाल उससे जूझना नहीं सिखाएंगे, उससे उबरने की शक्ति उसे नहीं देंगे, तो वह ऐसे साहित्य को छोड़कर, सनसनीपूर्ण मनोरंजक साहित्य की ओर जाएगा ही। भवानी भाई की कविता इस अपेक्षा को पूरा करती है। इसीलिए प्रबुद्ध पाठक, आम पाठक दोनों के लिए समान अपील रखती है। वह आम आदमी को,जुझारूपन की प्रेरणा देती है। पर बात इतनी ही नहीं है, आम आदमी के लिए लिखने वाला स्वयं भी एक सही आदमी होना चाहिए।

स्वयं भवानी भाई के शब्दो में, मैं केवल कवि नही हूँ। केवल कविता देकर अपने होने को पूरा नही मानता। कवि होना आसान है, आदमी होना कठिन। कवि तो आदमी अवान्तर शक्तियो से बनता है मगर आदमी वह पुरुषार्थ से ही बन पाता है। सौ तरह, सौ जगह तत्पर रहने से ही व्यक्ति का विकास होता है। मैं इस दिशा मे प्रयत्नशील हूं। व्यक्ति बन जाऊंगा तो मेरा कवि अपने को और सार्थक बनाएगा, ऐसी मेरी समझ है...... हां, मेरी समझ मेरी बुद्धि नही है। बुद्धि से मैं सलाह लेता हूँ जरूर, पर सुनता समझ की ही हूँ। बुद्धि साधारणतया सुविधा की सोचती है और समझ सही को, चाहे वह कितना ही असुविधाजनक क्यो न हो। तो अपनी समझ में भवानी भाई अभी पूरे 'व्यक्ति' बने हों या नही, उन्हें जानने समझने वाला हर व्यक्ति जानता है कि वह कैसे व्यक्ति हैं!

मध्यप्रदेश सास्कृतिक विभाग से उन्हे अलंकृत किये जाने के अवसर पर 'जनधर्म' ने जब उन पर एक पूरा विशेषांक निकाला तो सम्पादक कैलाश पंत ने उन्हें 'शलाका पुरुष' से संबोधित किया। डा० प्रभाकर श्रोत्रीय ने उन्हे कविता के जरिए रचा हुआ कवि कहा। बालकवि बैरागी ने लिखा, भवानी भाई ऋषि की तरह बोलते है। रामविलास शर्मा के शब्दों मे, भवानी भाई के साथ रहना, उनकी कविता सुनना ऐसा अनुभव है जैसे नर्मदा मे स्नान करना। नदी की कल कल की तरह उनकी भाषा मे खनक है। पिछले दो-तीन दशको मे जब कविता दुरूह होकर आम आदमी से कट गई, तब भवानी भाई ने पुल का काम किया। वह जितने बड़े कवि है, उतने ही अच्छे आदमी। विजयबहादुर सिंह के अनुसार, 'भवानी भाई की कविता आदमी की गोद मे है और आदमी उसके उजाले में।' श्री मनमोहन मदारिया लिखते है, 'नई कविता की किसी धारा को यदि सहज कविता का नाम दिया जा सकता है तो उसके प्रवर्तक भवानीप्रसाद मिश्र ही हैं।'

सहज कविता और सहज आदमी। यह पहचान पाना आसान नही। पर यही पहचान है भवानी भाई की—

भारतीय साहित्य परिषद, नई दिल्ली की एक गोष्ठी में मैंने उन्हे मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित किया था। भवानी भाई उसी दिन रात की गाड़ी से दिल्ली से बाहर जा रहे थे। फिर भी उन्होंने हमारी शाम की सभा का आमन्त्रण ठुकराया नही। बोले, 'मुझे जल्दी निपटा दोगी तो आ

जाऊँगा कि लौटकर मुझे गाड़ी भी पकड़नी है। पर समय पर हुआ यह कि जिन सज्जन के जिम्मे उन्हें लाने की बात थी, वह पत्रकार महोदय बाग पर कहीं और रुक गये। इधर हम गोष्ठी प्रारम्भ करने के लिए प्रतीक्षारत, उधर भवानी भाई घड़ी की सुई आगे खिसकती देख, चिन्तित। मैंने यह जानने के लिये फोन मिलाया कि वे लोग वहाँ से चल पड़े है कि नहीं ? और उत्तर मे भवानी भाई की फटकार सुनकर स्तब्ध रह गई कि यह सज्जन उन्हें लेने वहाँ पहुँचे ही नहीं थे। भवानी भाई प्रतीक्षा मे बैठे रहे, और फिर बिगडकर उन्होंने आने से इन्कार कर दिया, 'अब वहाँ से लौटकर गाड़ी कैसे पकड़ूगा ?' गलती हमारे एक साथी की थी। भवानी भाई अपनी जगह ठीक थे। मैंने स्थिति बताकर उनसे क्षमा मागी तो फौरन पिघल गये। समय कम रह जाने के बावजूद, वे गोष्ठी मे आए, अपनी कविता और कवितामय वाणी से श्रोताओं को मंत्रमुग्ध किया और फिर यह जा, वह जा।

ऐसा ही सरल-सहज स्वभाव है उनका। यूं अनेकों बार उनसे मिलने व उन्हें सुनने का अवसर मिला। पर जब मैंने उनसे इस पुस्तक के सन्दर्भ मे एक ताजा औपचारिक भेंट लेने के लिए समय मागा तो एकबारगी वह फिर बिगड़-से उठे, "नही किसी औपचारिक भेंट के लिए मैं प्रस्तुत नहीं हूँ। इससे कोई लाभ नही होता। वैसे जब चाहे आओ, बैठो, चर्चा करो, मुझे कोई आपत्ति नहीं। मैं इन्टरव्यू-विन्टरव्यू ...... अब किसी को नहीं देता। मेरी कविता ही मुझे जानने के लिए काफी नही है क्या ?"

एक अन्य जगह बोलते हुए भी उन्होंने अपने बारे में स्थिति स्पष्ट की, 'मैं अपने बारे मे आश्वस्त नही हूँ कि अमुक स्थिति में अमुक ढग से बात करूंगा या कोई बडी विपत्ति सामने पाकर घबराऊगा नहीं, या सदा प्रेम देने वाला कोई आत्मीय किसी कारण क्रोध का अवतार बन जाए तो विचलित नही होऊंगा या कोई राजा भोज मुझे अपमानित करने के ध्यान से औरो को सम्मान से अभिषिक्त करे तो मैं एकदम स्थितिप्रज्ञ की तरह तस्वीर बना रहूँगा। इसलिए लौकिक व्यवहार में मुझसे चूक हो जाती है। पर कविता के मामले मे मेरी स्थिति दूसरी है। वहा जो राग-द्वेष प्रकट होते है, वे मेरे नही, एक समूचे के होते है। समूचे को मैं अपना आपा कैसे गिनूं ? ऐसा कहना अजीब लग सकता है, पर मैं जानता हूँ कि मैं क्या कह रहा हूँ। कविता लिखते समय मेरे क्षुद्र व्यक्तित्व-अश लीन हो जाते हैं—

मात्मा और विश्वात्मा में। उस समय मैं भाव-अभाव की नहीं सोचता। बस कोई एक ध्वनि उठती है, यह मुझे बजाती है और मैं बजने लगता हूं।"

प्रबुद्ध समीक्षक डा. श्रोत्रीय के शब्दों में, 'भवानीप्रसाद मिश्र के काव्य-चिंतन के दो उत्स हैं—पहला, हवा और आग में, वन और आकाश में, जन और जीवन में उनका निरन्तर खुला रहना। दूसरा, सृजन-प्रक्रिया के दौरान कविता हासिल करना।' और 'वह भावात्मक संवेदनों से अपनी कविता का रिश्ता जोड़े रहे, पर उनकी कविताओं की अपील आम तौर पर बौद्धिक है। आज वह अपने काव्य की जमीन पर खड़े होकर आधुनिकता की ओर कटाक्ष से देख रहे है।'""""इस तरह मदारिया जी भी कहते हैं, 'नये कवियों में कवि सम्मेलन लूटने वाले दो ही कवि हैं—नागार्जुन और भवानी भाई। यानी भवानी भाई में सवेदनात्मक आसक्ति भी है प्रखर बौद्धिकता भी इसलिए उनकी बौद्धिकता ओढ़ी हुई या छूछी नहीं है। कहीं वह आत्मलीन कविता में समाधिस्थ है, कहीं प्रखर तेजस्विता से जन-जन को झकझोरने वाली।

कविता के बारे में आम धारणा है कि किशोरावस्था व युवावस्था में ही इसका सहज सृजन संभव होता है, उसके बाद प्रेरणा-स्रोत सूखने लगते है। पर यह धारणा भवानी भाई पर लागू नहीं होती। वह इस ढलती आयु में भी उसी ओज, उसी रस से सिक्त होकर निरन्तर लिख रहे है और खूब लिख रहे हैं। कविता को समर्पित यह व्यक्ति आपातकाल में भी चुप नहीं बैठा। लगातार तीन कविताएं रोज लिखता रहा। आपातकाल के प्रति अपना आक्रोश जिस मुक्त भाव से इन्होंने अपनी इन कविताओं में उडेला, वह बाद में 'त्रिकाल संध्या' के रूप में सामने आया। भय, घुटन और प्रति-बंधन के उन दिनों में भी अपनी 'चार कौए' कविता जिस चतुराई से उन्होंने 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के बाल-स्तम्भ में छपवा ली थी, उससे उनकी निर्भीकता, हर स्थिति में अडिगता और मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता की बात सहज ही उजागर हो गई थी। पाठकों के मन में भवानी भाई का सम्मान इसके बाद और बढा। उनके सरल भाषा में व्यक्त गहरे व्यंग्य समझने वाले समझ जाते हैं। इसीलिए उनकी अपील भी व्यापक होती है। जब वह मच पर बोलते हैं तो उनकी काव्यमयी मर्मस्पर्शी वाणी को सुनकर लगता है, यदि वे गद्य लिखते तो उसकी अपील भी इतनी ही व्यापक होती।

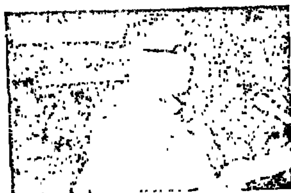
भवानीप्रसाद मिश्र का जन्म 19 मार्च 1913 को होशंगाबाद जिले के टिगरिया गाव मे हुआ था। उनके अब तक एक दर्जन से ऊपर काव्य सकलन प्रकाशित हो चुके हैं—'गीत फरोश', 'इदनमम्,' 'अनाम तुम आते हो,' 'परिवर्तन जिए,' 'बुनी हुई रस्सी,' 'व्यक्तिगत,' 'गांधी पंचशती,' 'खुशबू के शिलालेख,' 'चकित है दुःख,' 'शरीर, कविता, फसलें और फूल,' 'त्रिकाल संध्या।' जैसी कविताएं, वैसे ही नाम।

उनके कवि व्यक्तित्व को मान्यता बहुत देर से मिली, जब दूसरे 'तार सप्तक' में श्री अज्ञेय द्वारा उनकी रचनाएं संकलित की गईं। उनका पहला काव्य-संकलन 'गीत फरोश'—'जी हां हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ, किसिम किसिम के गीत बेचता हूं'—उनकी पचास वर्ष की आयु में छपा। फिर पहचान बनी तो ऐसी कि एक के बाद एक कविता-सकलन ही नहीं आए, उनका कवि जन-मन पर छाता चला गया। मस्ती, फक्कड़पन और अपनी सृजना में निश्छल जीवन को समूचे रूप मे आत्मसात् करने की छटपटाहट उनके व्यक्तित्व की विशेषता है तथा किसी भी वाद से अलग, सवेदना + बौद्धिकता के साथ सहज प्रवाह उनकी कविता की पहचान है। नव्यतर चेतना की कविता को जनता से सीधा साक्षात्कार कराने वाले वे अकेले कवि हैं। कवि, केवल कवि के रूप में जीने वाले भी शायद अकेले।

□

चलते फिरते
विश्वकोष

डा. प्रभाकर माचवे



आज का युग ज्ञान के विस्फोट का युग है, जिसमें हर सामान्य मनुष्य बौना हो आया है। ऐसे में डा. प्रभाकर माचवे जैसे ऊंचे कद्दावर लोग अपवाद लगते हैं।

देश-विदेश का ज्ञान, विभिन्न भाषाओं का ज्ञान, उनके साहित्य का ज्ञान, संस्कृति, इतिहास, परंपराओं का ज्ञान और विविध सामान्य ज्ञान-यानी ज्ञान की जिन ऊंचाइयों को मैंने हमेशा एक ललक के साथ देखा है; जिनका अभाव मैं अपने भीतर हमेशा महसूसती रही हूँ, डा. माचवे हर बार मुझे ज्ञान की उसी ऊंचाई पर खड़े मिले—जानकारियों के अंबार सरीखे। ऐसे अंबार कि उनकी साहित्यिक उपलब्धियां तक उसके नीचे दब कर रह गई लगती हैं।

उनकी आंतरिक ऊर्जा, कर्मठता, सहज प्रत्युत्पन्नमति, विलक्षण रूप में तीव्र स्मृति, तत्परता और निरन्तर सक्रियता किसी भी सामान्य व्यक्ति के लिए ईर्ष्या की वस्तु हो सकती है। कम से कम मैं तो इसके लिए उनके प्रति अवश्य ईर्ष्यालु रही हूँ। फिर भी अहम् इस ऊंचाई को छू तक नहीं गया। विलक्षण व्यक्तित्व वाला यह सरस्वती-पुत्र मुझे हमेशा एक बच्चे की तरह सरल, निष्कपट भी लगा। हर छोटी-बड़ी पत्रिका के साथ समान रूप से सहयोग के लिए उत्सुक—जो पारिश्रमिक दे, उसका भला, जो न दे, उसका भी भला। नि:स्वार्थ भाव से हर नए लेखक, कार्यकर्ता, शोध-छात्र की सहायता के लिए भी तत्पर।

मध्य प्रदेश से दिल्ली आने पर पारिवारिक आर्थिक संकट से घिर कर जब मैंने सामाजिक कार्यक्षेत्र की व्यस्तता कम करके लेखन को ही अपनी आजीविका का साधन बनाया तो प्रारंभिक कुछ वर्ष मेरे लिए घनघोर श्रम और कठिन परीक्षा के वर्ष थे। पत्र-पत्रिकाओं में मैंने अपना स्थान बनाया तो कुछ नई खोजपूर्ण सामग्री दे कर। इसके लिए दिन भर लाइब्रेरियों में सिर खपानी थी, ढेरों पत्र लिखती थी और अपने विषयों की खोज में इधर से उधर भटकती थी। इसी सिलसिले में शायद एक दिन माचवे जी के पास भी जा पहुँची थी। कहाँ साहित्य अकादमी के सचिव का पद और कहाँ दिल्ली में नई, एक अनजानी-सी साधनहीन लेखिका। पर माचवे जी का सौजन्य कि उन्होंने तुरन्त अनभिज्ञता के मेरे संकोच से मुझे उबार लिया। संदर्भ-सूचनाएं ही नहीं, निर्देशन और हर संभव सहायता के लिए भी उनकी तत्परता देख कर मैं दंग रह गई।

संकोच मिटा तो इसके बाद भी जब कभी मुझे संदर्भ-जानकारियों की जरूरत पड़ी—किसी भी प्रदेश से, किसी भी भाषा से, माचवे जी ने तुरन्त मदद की। बहुत कुछ तो बैठे-बैठे उनके मस्तिष्क से ही झर पड़ता। गजब का भंडार और गजब की स्मृति। मैं तो उन्हें 'चलता फिरता विश्वकोष' ही कहती हूँ। कई बार तो ऐसा भी हुआ कि लिखते-लिखते मेरे पास कुछ अटका और मैंने कहीं से फोन लगा कर (तब मेरे पास अपना टेलीफोन नहीं था) माचवे जी से पूछ लिया और अक्सर उन्हें उत्तर खोजना नहीं पड़ा। यदि कुछ रह गया या बाद में उस में कुछ संशोधन याद आया तो तुरन्त उन्होंने पत्र द्वारा लिख भेजा। व्यस्तता की आड़ में उन्होंने शायद ही कभी किसी से मुँह चुराया हो। आज के जमाने में कितने लोग हैं जो इस तरह सहज निःस्वार्थ भाव से हर किसी की सहायता के लिए उद्यत रहते हैं? विशेष रूप से महिलाओं के मन में इतनी सहज निश्छलता और निर्लिप्तता के साथ अपनी मानवीयता की गरिमामय छाप छोड़ पाते हैं?

माचवे जी का मस्तिष्क ही विशाल नहीं, हृदय भी विशाल है। वे बहुत अच्छे मानव है, बहुत अच्छे मित्र है। मित्रों का विस्तृत दायरा रखते हुए भी शायद ही किसी को निराश करते हों। इसका श्रेय बहुत कुछ उनके भीतर की ऊर्जा के अक्षय भंडार को भी दिया जा सकता है, जो अवकाश प्राप्ति की उम्र के बाद भी उन्हें निरन्तर सक्रिय बनाए हुए है। आज भी

उनसे कोई रचना मांगे, कोई कुछ पूछे, उत्तर देने में उतने ही तत्पर हैं। पता नहीं, वे कब कैसे इतना पढ़, लिख लेते हैं। हर क्षेत्र की विविध जानकारियाँ प्राप्त करने और कर्मठता के क्षेत्र में माचवे जी मेरी अप्रत्यक्ष प्रेरणा रहे हैं, एक अप्राप्य आदर्श। यह आलेख शायद उसी ऋण से उऋण होने का एक उपक्रम है।

डा० प्रभाकर माचवे दिसम्बर 1975 में साहित्य अकादमी से अवकाश प्राप्त करके यहां से चले गए थे। पर पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से उनकी साहित्यिक गतिविधियों का परिचय मिलता रहता है। जिस उम्र में आकर लोग शिथिल हो जाते हैं, वह अधिक सक्रिय हो उठे हैं। इस करिश्मे का जायज़ा लीजिए :

"माचवे जी, गए दशक में आपने कौन-कौन सी नई पुस्तकें लिखी हैं ?"

"1972-82 के बीच उपन्यास 'द्यूत', 'दशभुजा', 'किसलिए', 'दर्द के पैवंद', 'कहां से कहा'। यात्रा वर्णन-'रूस में', जीवनी-'छत्रपति शिवाजी', 'हिन्दी ही क्यों और अन्य निबंध', 'विभिन्न धर्मों में ईश्वर कल्पना', 'आधुनिक भारतीय विचारक', 'शब्दरेखा' आदि हिन्दी में 12। 'फ्राम सेल्फ टु सेल्फ', 'क्रिएटिव आर्ट एंड कम्यूनिकेशन', 'फोर डिकेड्स आफ इंडियन लिटरेचर', ट्रेडिशन एंड कन्टेम्पोररी इंडियन लिटरेचर', 'बुद्धिज्म इन इंडिया एंड सीलोन' आदि अंग्रेजी में 12 और मराठी में 2, कुल 26 पुस्तकें, जिनमें से कुछ में अन्य सह लेखक भी हैं।" कुल मिलाकर माचवे जी अभी तक 65 पुस्तकों की रचना कर चुके हैं और इधर उनका लेखन तीव्र गति से जारी है।

साहित्य अकादमी छोड़ कर जाने के बाद उन्होंने और क्या-क्या किया व कर रहे हैं ? यह पूछने पर उनका उत्तर था, 'फरवरी 1976 से फरवरी 1978 तक मुझे उच्च अध्ययन संस्थान शिमला में शोधकार्य के लिए 'फ़ैलोशिप' मिली थी। मैंने 'हिन्दी और मराठी साहित्य में मार्क्स और गांधी' पर बहुत-सी सामग्री एकत्रित की। संस्थान ही 1978 में बन्द हो गया। सामग्री पड़ी है।

'इसके बाद एक वर्ष तक मैं प्रायः बेकार (?) रहा। एक महीना क. मुंशी हिन्दी तथा भाषा विज्ञान संस्थान आगरा ने मुझे 'विजिटिंग प्रोफे-

सर' के नाते बुलाया। काश्मीर यूनीवर्सिटी, श्रीनगर के हिन्दी विभाग में भी वैसे ही पद पर एक महीने के लिए बुलाया गया। कुछ भारत-यात्रा की। रिटायर होने पर सरकारी क्वार्टर खाली करना पड़ा। और दिल्ली में निजी मकान किराएदार से जल्दी खाली नहीं कराया जा सका तो भारी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इतने वर्षों की जमा साहित्यिक पूंजी (पुस्तकें, पत्रिकाएं, कतरनें) कहां रखें ? सब बाट देनी पड़ी, मित्रों को और लाइब्रेरियों को। एक ट्रक लाद कर सामान बम्बई गया तो वहां पुत्र के पास भी जगह कम होने से दो साल सामान बंद पड़ा रहा। उसके बाद किसी तरह नई दिल्ली अपने मकान की एक मंजिल खाली मिली। शिमला से लौट कर कुछ दिन वहां रहा। फरवरी 1979 से श्री सीताराम सेक्सरिया (अब स्वर्गीय) के आग्रह पर कलकत्ता आ गया—इस 'भारतीय भाषा परिषद' संस्थान का निदेशक बन कर।

"आपकी 'कलकत्ता की चिट्ठी' से इस संस्थान की गतिविधियों का कुछ परिचय तो मिलता रहता है। आपने यहा आकर इन तीन वर्षों में क्या-क्या किया है ?"

"भारतीय भाषा परिषद शोध-संस्था और ट्रस्ट है। इसकी पाच मंजील इमारत मे सभागार, सभाकक्ष, ग्रंथालय, अतिथि-निवास, साहित्य सूचना केन्द्र के साथ कार्यालय व निदेशक-निवास भी है। यहा प्रतिमास हिन्दी और अन्य भाषाओं के साहित्यिक कार्यक्रम, व्याख्यान, संगोष्ठियां होती है। हमने गत तीन वर्षों मे प्रेमचन्द शताब्दी, उत्कल साहित्य गोष्ठी का आयोजन किया है और अब इस वर्ष पराड़कर-शताब्दी मनाने जा रहे हैं। इस अवधि में हमने यह प्रकाशन-कार्य भी किया है : 1. शतदल (सभी भारतीय भाषाओं से चुने गए 100 श्रेष्ठ कवियों की एक-एक कविता, हिन्दी अनुवाद सहित) 2. भारतीय उपन्यास कथाकार—प्रथम खण्ड (6 भाषाओं के 61 उपन्यासों के कथासार) 3. गीत गोविंद (संगोष्ठी में पढ़े गए प्रपत्र) 4. वचनोद्यान (कन्नड़ से अनुवादित पुरस्कृत कविता पुस्तक) 5. हिन्दी की भूमिका (डा० धीरेन्द्र वर्मा व्याख्यानमाला और डा० उदयनारायण तिवारी के भाषण) हजारीप्रसाद व्याख्यानमाला, राधाकृष्ण कानोरिया लोक साहित्य व्याख्यानमाला के अलावा हम प्रतिवर्ष 11-11 हजार के चार पुरस्कार बंगला, गुजराती, हिन्दी व एक दक्षिण भारतीय भाषा की मौलिक पुस्तक

र देते हैं तथा तीन पुरस्कार अनुवाद पर। 'संदर्भ-भारती' नाम की हिन्दी
त्रैमासिक पत्रिका और 'परिषद समाचार' नामक मासिक बंगला पत्रिका
भी प्रकाशित करते हैं।"

"आपके लेखन की भविष्य की योजनाएं ?"

"एक उपन्यास अभी लिख कर पूरा किया है "आंखें अपनी, बाकी
उनका।" मेरे पास अधलिखी कई चीजें पड़ी हैं। अखबारों में छपी बिखरी
इतनी सामग्री है कि फुरसत मिले तो कुछ करूं। कई देशों के यात्रा-संस्मरण,
रेखाचित्र जमा हैं। कई लेखकों, महापुरुषों के हस्ताक्षर सहित मेरे बनाए
रेखाचित्र मेरे पास हैं। कई साहित्यकारों के पत्र हैं। बनाऊं तो 10 पुस्तकें
बनें, इतनी सामग्री बिखरी है। और व्यस्तता का यह आलम कि पत्र-
पत्रिकाओं की मांग पर ही रोज एकाध लेख लिखना पड़ रहा है। रेडियो,
टेलीविजन का मामला अलग। बीस से अधिक यूनिवर्सिटियों में पीएच. डी.
की परीक्षा की और सार्वजनिक सभा-सम्मेलनों में व्याख्यान आदि की
व्यस्तताएं अलग। ऐसे में अपना काम कितना हो, कैसे हो ?"

"आपने अनेक सांस्कृतिक व साहित्य यात्राएं की हैं। उनके बारे में
भी कुछ बताइए। भारतीय साहित्य की बाहर पहचान के बारे में आपकी
राय क्या है ?"

"हर बार विदेश मैं किसी कारण से, किसी उद्देश्य से या किसी के
निमंत्रण पर गया। सन् 1959 में प्रथम बार जब विदेश गया तो अमेरिका
के दो विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर कक्षाओं में अध्यापन कार्य किया। मैंने
वहां प्राचीन और आधुनिक भारतीय साहित्य, हिन्दी भाषा, भारतीय नव-
जागरण विषयों पर छः पाठ्यक्रम पढ़ाए। साथ ही भारतीय धर्म, दर्शन और
ललित कलाओं पर व्याख्यान भी दिए। 1961 में यूरोप के और मध्य पूर्व के
13 देशों की यात्रा मैंने अमेरिका से लौटते हुए की। यहां मेरा जिज्ञासा भाव
अधिक था। मैं पश्चिम के सांस्कृतिक मूल्य जानना चाहता था। लौटने पर
मैंने 'ज्ञानोदय' में 'गोरी नजरों में हम' नाम से आठ लेखों की माला लिखी
थी। 1963 में श्रीलंका गया तो बौद्ध विद्यालंकारों (विश्वविद्यालयों) में
मैंने व्याख्यान दिए और वहां के पुरातत्व और म्यूजियम देखे। इस पर
मैंने 'धर्मयुग' में लिखा था, जो बाद में 'भारत और एशिया का साहित्य'
में छपा। 1967 में मुझे मैक्समूलर भवन वाले पश्चिम जर्मनी के 10

विश्वविद्यालयों में भारत विद्या अध्ययन-कार्य को दिखाने ले गये। वहां से लौटने पर डा० रांग्रा ने मेरा साक्षात्कार लिया, जो 'ज्ञानोदय' में छपा। मैंने स्वयं भी 'थॉट' में लिखा। 1972 में 'सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार' विजेता के नाते मैंने रूस और बुल्गारिया की यात्रा की। 'रूस में' नामक पुस्तक रेखाचित्रों सहित वाराणसी से छपी है। 1973 में सांस्कृतिक आदान-प्रदान में एक सप्ताह के लिए बंगला देश गया। 1980 में जापान फाउंडेशन के निमंत्रण पर जापान, हागकांग, थाईलैंड गया। इस यात्रा के विवरण 1981 मे दिनमान के 4 अंकों में छपे है।

"विदेश में मैं प्राय 20 देशो के साहित्यकारो से मिला। उन अनुभव के आधार पर मैं निस्संकोच कह सकता हूँ कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और मोहम्मद इकबाल के अलावा बहुत कम भारतीय साहित्यकारो के नाम दुनिया के और देशो को ज्ञात हैं। जब-जब कोई शताब्दी आदि मनाई जाती है, तब बाहर वह नाम चर्चित हो जाता है या जिस कवि, लेखक के अनुवाद के लिए युनेस्को की आर्थिक सहायता मिल जाती है, वह सुपरिचित हो जाता है— जैसे गालिब, तुलसीदास, सूरदास, नानक, वल्लतोल, प्रेमचन्द्र। पर जीवित रचनाकारों की बहुत कम रचनाएं अंग्रेजी से इतर विदेशी भाषाओं मे अनुवादित हो पाती हैं।"

"भारत की विभिन्न भाषाओं मे से भी अधिकांश के आप मर्मज्ञ हैं। भारतीय भावात्मक एकता मे प्रादेशिक भाषाओ के योगदान पर आप क्या सोचते है ?" क्या समसामयिक साहित्य अन्य भाषाओं में आधुनिक परिवेश के अनुकूल लिखा जा रहा है ?"

"इस प्रश्न का उत्तर बहुत विस्तृत है और इतने विस्तार मे जाने की यहां गुंजाइश नही। सभी भारतीय भाषा समान नही है—न इतिहास मे, न भूगोल मे। फिर कुछ बहुत प्राचीन हैं, जैसे सस्कृत और तमिल, तो कुछ अधिक नई जैसे उर्दू और पंजाबी। कश्मीरी और सिन्धी बोलने वाले तथा हिन्दी बोलने वालो मे 20 लाख और 20 करोड़ का अन्तर है। इसलिए विविधता मे एकता का स्तर भी अलग-अलग है। साक्षरता की दर भी सब जगह एक सी नही है। गावों, कस्बों, महानगरों की शैक्षणिक सामाजिक स्थिति अलग है। पर इस सब के बावजूद भारतीय साहित्य की अन्तरात्मा एक है, क्योंकि हमारी सांस्कृतिक धरोहर एक है।"

साहित्य अकादमी से अलग होने के बाद माचवे जी ने अकादमी की साहित्यिक राजनीति पर भी खुलकर लिखा है। नेहरू जी के समय से आज के समय की तुलना करते हुए वे कहते है, "अब तो जैसे रेवड़ी बांटने का सिलसिला शुरू हो गया है। ऐसी-ऐसी बातें होने लगी हैं जिनका पहले स्वप्न भी नहीं देखा जा सकता था।"

हिन्दी भाषा और साहित्य की वर्तमान समस्याओं पर हिन्दी के पुराने लेखक के नाते उनके क्या विचार है, यह पूछने पर उनका उत्तर था, "मैं दोष लेखकों में, प्रकाशकों मे, संपादकों मे, अध्यापकों में, पाठकों और श्रोताओं में सभी जगह समान रूप से देखता हूं। कोई भी इस समय अपना कर्तव्य ठीक से नही निभा रहा। सबको अधिकारों की पड़ी है। हिन्दी की सेवा करने वाले अब कहां हैं ? सबको तो 'मेवा' की पड़ी है। इसलिए हिन्दी के विकास के लिए हर वर्ग एक-दूसरे को बाधक मानता है। पर एक हिन्दी सेवी के नाते मैं किसी पर दोष रखने की बजाय अपनी ही कमजोरी देखने के पक्ष में हूं। 50 वर्षों से हिन्दी की सेवा कर रहा हूं पर पूरा संतोष या समाधान नही है। हम हिन्दी वाले ही हिन्दी के लिए क्या कर पाए ?"

Δ

हिन्दी जगत के 'नारद',
हास्यरसावतार
गोपालप्रसाद व्यास



"बात भारत-पाकिस्तान युद्ध के दिनों की है। हमने ये चार पंक्तियां लिखीं, 'मियाँ अयूब क्या कश्मीर को ननिहाल समझा है, परोसा थाल समझा है, मुफ्त का माल समझा है? गए वे दिन कि जब गदहों को डाली घास जाती थी, अमां क्या शास्त्री जी को जवाहरलाल समझा है........?' दिनकर जी ने बांचा, खुश हुए और 'साइक्लोस्टाइल' करवाकर पांच-सात सौ प्रतियां सभी संसद-सदस्यों को भेज दीं। गंभीर, भावुक दिनकर जवाहरलाल जी के निकट मित्रों में से एक थे, फिर भी इसके परिणाम से नावाकिफ रहे। उन दिनों लालबहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री थे। उन्होंने राज्यसभा पैनल में हमारा नाम भी डाला हुआ था। पर शास्त्री जी गुजर गए, उनके साथ ही हमारी राज्यसभा-सदस्यता भी गुजर गई। हमने अपने आप को लताड़ा, 'अमां क्या जरूरत थी, शास्त्री जी को जवाहरलाल जी से 'कम्पेयर' करने की। यों भी तो कह सकते थे—'क्या शास्त्री जी को बकरा हलाल समझा है।' पर नहीं, ऐंठू आदमी ऐसे ही तो जाता है।"

"यत्र तत्र सर्वत्र' और 'नारद जी खबर लाये हैं' स्तंभ-लेखन के लिए क्या कठिनाइयां नहीं झेलनी पड़ीं। एक बार बिहार के वकीलों ने स्वयं को नेक और न्यायप्रिय सिद्ध किया तो हमने उस पर टिप्पणी की। पर्दाफाश ही नहीं किया, उनके संगठन पर भी कटाक्ष किया। तो जनाब आ गया नोटिस! खैर, आ गया तो कहा, 'हम भी कम नहीं, निबट लेंगे'

और निबट लिया ।'

"श्री चन्द्रभानु गुप्त तब उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री थे। फिर हम अपनी कारगुजारियों से भी कैसे बाज आएं। कर दी उनकी नीतियों की भी आलोचना। उन्होंने घनश्यामदास बिड़ला को लिख मारा, 'अपने इस व्यास को संभालिए। हमारे पीछे पड़ गया है।' बिड़ला जी ने उन पंक्तियों को रेखांकित करके पत्र हमें दिखाया, कहा कुछ नही। हमने भी आगे उनकी नीतियों की आलोचना बंद नही की। बस थोड़ी चतुराई बरतनी पड़ी।"

"जब हम आगरा 'साहित्य संदेश' में काम करते थे, बाबू गुलाब राय जी से समीक्षात्मक ज्ञान मिला। पर व्यंग्यकार कैसे बने, यह बताता हूं। गुलाबराय जी के बेटे की शादी में एक भैंस मिली थी। ऐसी उत्पाती भैंस कि गुसलखाने मे जा घुसी। अंदर उनकी श्रीमती थी। अब भैंस जी ने उन्हें तो कुछ नही कहा, स्वयं दरवाजे मे अटी पड़ी है। श्रीमती जी बाहर निकलें तो कैसे निकलें? भय और चीख-पुकार का वातावरण बन आया था। खैर! किसी तरह रस्सों से बांधकर भैंस को बाहर निकाला गया। सबकी जान में जान आई। पर हमें इसमें से ही एक व्यंग्य कविता सूझ गई। इसके पहले वहां गंभीर साहित्यिक वातावरण ही था। प्रेमचंद जी व टंडन जी वहां आते थे। पर यह व्यंग्य कविता छपते ही सबको लगा, साहित्य में एक नई जमीन तोड़ी गई। होगी, हमारे हाथ तो एक विधा लग गई और हम आगे और व्यंग्य कविताए लिखने लगे।"

अपनी इस चिरपरिचित शैली में धाराप्रवाह बोलने वाले, गप्पो के खजाने और हँसी के गोलगप्पे लुटाने वाले हास्यरसाचार्य गोपालप्रसाद व्यास से शायद ही हिन्दी का कोई पाठक अपरिचित हो। 'हिन्दुस्तान' जैसे *राष्ट्रीय पत्र में लगातार पच्चीस वर्ष तक 'यत्र तत्र सर्वत्र' जैसा दैनिक स्तंभ* लिखना कोई हँसी खेल का काम नहीं। बाद मे इसके साथ ही 'नारद जी खबर लाए हैं' जैसे साप्ताहिक स्तम्भ मे सामयिक राष्ट्रीय समस्याओं पर हास्य व्यंग्य के मनोरंजक ढंग से लिखकर राजनीतिक क्षेत्र की आतंरिक खबरें देना भी कोई कम हिमाकत का काम नही। सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र की गहरी जानकारी रखने वाली कोई त्वरित कर्मठ कलम ही यह जिम्मेदारी, निभा सकती है।

इस नियमित लेखन के साथ ही यहां-वहां उनकी हास्य-व्यंग्य की कविताएं छप रही हैं। सम्पादकीय लेखों पर भी उनकी छाप पड़ रही है। साहित्यिक गोष्ठियों, समारोहों, कवि-सम्मेलनों का आयोजन किया जा रहा है। होली के अवसर पर 'महामूर्ख सम्मेलन' और राष्ट्रीय पर्व पर लालकिले के अखिल भारतीय कवि सम्मेलन के आयोजक के नाते नाम कमाया जा रहा है। दोस्तों में बैठकबाजी हो रही हैं। गप्पबाजी के साथ कभी बूटी भी छन रही है। रसिया, छैला के रूप में भी शोहरत फैल रही है। पता नहीं, इस एक व्यक्ति के भीतर कितने व्यक्ति हैं? इतनी व्यस्तता इतनी कर्मठता, फिर भी जब देखो तब तरोताजा, हर किसी से मिलने, बात करने, बोर करने तक की भी फुर्सत। बोलते है तो बोलते चले जाते हैं। लिखते है तो लिखते चले जाते हैं। दोनों प्रक्रियाओं में गति ही गति, जिसमें कोई व्यवधान उन्हें पसंद नहीं।

कई बार उनके कार्यालय में उन्हें देखा। अक्सर फुर्सत में बैठे बात करने के लिए तत्पर मिले। लेकिन दो-तीन बार उन्हें उद्विग्नता से इधर-उधर घूमते हुए भी पाया। उनके साथियों ने बताया, दैनिक स्तम्भ लिखने से पूर्व सोच की प्रक्रिया में कुछ देर इसी स्थिति में रहते हैं, फिर 15-20 मिनट स्थिर बैठकर उसे लिख डालते है। इस समय वह किसी से बात नहीं करेंगे। पर लेखन से उबर चुकने के बाद उसी मूड में आ जाएगे।'

दैनिक हिन्दुस्तान के कार्यालय में, हिन्दी साहित्य सम्मेलन में और बाहर गोष्ठियों आदि में व्यास जी से अक्सर भेंट होती रहती थी। फिर भी आंतरिक ऊर्जा के अक्षय भंडार इस व्यक्ति से मेरा कोई निकट परिचय न था। शायद अपने गम्भीर स्वभाव के कारण ही मैं उनकी हल्के-फुल्के ढंग की बात से कतराकर निकल जाती थी। लेकिन मन में कहीं यह जिज्ञासा बनी रही कि इस ऊर्जा का स्रोत क्या है? एक व्यक्ति एक साथ इतनी जिंदगियां कैसे जीता है? लगातार इतने सालों तक लेखन की दैनिक कसरत करते हुए भी कहीं थकता-चुकता क्यों नहीं?

साहित्य में व्यास जी का क्या स्थान है, इसे रेखांकित करना तो समीक्षकों का काम है। लेकिन एक साहित्यकार के साथ एक विलक्षण व्यक्ति और एक संस्था के इस मिले जुले रूप को कुछ औपचारिक-अनौप-

चारिक बातचीत से जाचा-परखा जाए, यह इच्छा कभी-कभी हो आती थी। इस पुस्तक के लिए अवसर सामने है और मैं फोन उठाकर उनसे बात करती हूँ, "व्यास जी हैं ? मैं ...... बोल रही हूं।" "कहो भई कैसे याद किया ? तुमने तो हमें कभी घास नही डाली थी।" उनकी चिर परिचित हास्य-शैली।

"सबकी खबर लेने वाले 'नारद' जी की भी खबर जरा लेनी चाहती हूं।" मैंने भी उन्ही के ढंग से अपनी बात रखी।

"हां-हा, जरूर खबर लो। अच्छी तरह लो। बल्कि ऐसे पूछो, 'कहो व्यास, कैसी कटी'?"

निश्चित समय पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यालय मे भेंट के समय पता चलता है कि 'कहो व्यास, कैसी कटी ?' उनकी शीघ्र प्रकाश्य आत्मकथा का शीर्षक है। और फिर मुझे "कैसी कटी" पूछने का मौका कम मिलता है, सामने से धाराप्रवाह सम्भाषण की बौछारें मुझ पर इतनी तेजी से पड़ने लगती है कि पृष्ठों पर उन्हें समेट पाना किसी के 'शार्ट हैंड' लेखन मे भी शायद ही सम्भव होता, मेरे 'लांग हैंड' मे तो क्या होना था !

पहले यत्र तत्र और नारद जी की खबरों पर ही चर्चा होती है।

व्यास जी बताते है, "25 सालो मे पांच-दस किश्तो को छोड़कर किसी ने उस पर नही लिखा। मैं ही लगातार यह दैनिक-क्रम चलाता रहा। कभी बाहर जाना हुआ या अन्य कोई व्यवधान आया तो सामान्य विषयों पर पहले से तैयार करके रखी गई कुछ किश्तें फिट कर ली गई। पर ऐसा बहुत कम हुआ। चूंकि सामयिक ज्वलंत समस्याओं पर ही यह कालम था, मैं कही भी, किसी हाल में होऊं, इसे हर रोज नियमित ही लिखता था। कभी ऐसा भी होता कि कोई सामयिक घटना-संदर्भ ही नही है या एकदम विषय नहीं सूझ रहा है तो उसे लेकर अपने पर ही व्यंग्य कर लेता था। पर इस स्तंभ की दृष्टि व्यंग्य की कम, परिहास की ही अधिक होती थी। इसी ढंग से ही मैं आक्रमण करता था।

"हां, पत्र-संचालकों की ओर से भी मुझे सभी तरह की छूट मिली हुई थी। इसीलिए मेरे छींटों से बिदकने वाले लोगों के आक्रमण भी झेल

लेता था। दरअसल परिहास हो या व्यंग्य, उसमें थोड़ी चतुराई चाहिए औ
मनोरंजक शैली भी। मेरा यह स्तंभ इसीलिए बहुत लोकप्रिय व बहुपठि
रहा। बहुत बार तो इस पर सट्टे भी लगते थे कि कल यत्र तत्र में क्य
आएगा? इसे मनोरंजक बनाने मे शायरी, लोकोक्तियो, कहावतो का मेर
भंडार भी बहुत काम आया। मैंने किसी घटना का, चोट करने की किसं
शैली का दोहराव कभी नही किया। भगवान की दया से स्मृति तेज है हों
बस 10-15 मिनट ही लगते थे सोचने मे।""""हा उस समय मुझे को
व्यवधान सहन न था। पर उतनी ही देर। विषय भरा, भड़ास निकाली औ
फिर मुक्त। बाद के मेरे स्तंभ 'बात-बात मे बात' और 'चकाचक' भी इसं
कोटि के है। व्यास पर शोध करने वाले शोधकर्ता जानते हैं कि राष्ट्र क
सच्चा इतिहास इनमे किस तरह पिरोया हुआ है।

"नारदजी की खबर वाला साप्ताहिक कालम इस दैनिक कालम से भि
रहा। इसे अतीत, वर्तमान के चित्रण के साथ भविष्य की सूचना देने वाल
साप्ताहिक डायरी कहा जा सकता है। निश्चय ही राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य
व्यापक समस्याओ पर लिखने के लिए और साहित्य-अध्ययन और सामान
जीवन-अध्ययन के साथ व्यापक जन-सम्पर्क भी चाहिए। नारद जी देश भ
मे घूम कर (अन्तर्राष्ट्रीय खबरो के लिए ब्रह्माड मे भी) खबरें लाते थे त
लोगो को लगता था, इसके पीछे कई जासूस-सवाददाता काम कर रहे होंगे
नही, कोई सवाददाता सहायक रूप में साथ नही था। हां निजी संपर्क
अनेको सवाददाता रहे होगे। इसके लिए अधिक पढना और अधिक सम्पर्क
साधना ही होता था। फिर विषय भी राजनीति तक सीमित नहीं थे। देश का
सस्कृति का, धर्म का, पक्षधर होने के नाते मै उन सभी जगहों पर वा
करता था, जहा सदाचार खडित होता हो, दहेज जैसी कुरीतिया पनपती हो
रिश्वत, मिलावट जैसे भ्रष्टाचार के चूहे देश की अस्मिता की जडें कुतरते
हो। सीमाओं पर खतरे के समय तो मैने और भी तनकर, जमकर लिखा
व्यंग्य-विनोदपूर्ण मेरा यह स्वतन्त्र लेखन 1-यत्रम् तत्रम् 2- नारद जी खब
लाए है 3- बात-बात मे बात 4- चकाचक, इन चार खडो मे प्रकाशित हं
रहा है।

श्री गोपाल प्रसाद व्यास का जन्म सूरदास की निर्वाण-स्थली परा-
सौली (मथुरा) में 13 फरवरी 1915 को हुआ। मथुरा मे शिक्षा लेकर

उन्होने आगरा को अपना प्रथम कार्यक्षेत्र बनाया। इसके बाद दिल्ली आ बसे। यहां भी पूछने पर उनका उत्तर मिलता है :

यहीं आदि वृन्दावन, वल्लभ प्रगट जनायो,
परम रास-स्थली, परसौली पर पायो,
यहीं मुरलिया बजी श्याम-श्यामा मिल नाचे,
ऊधौ भूले ज्ञान, प्रेम के आखर बांचे,
सूरदास ने यही ललित लीला पद गाई,
जन्मे व्यास गोपाल गांव में, बजी बधाई,
इतते ही मथुरा गये, फिर दिल्ली को वास,
भाषा की सेवा करी, रच्यौ हास-परिहास।"

यानी अपने बारे मे भी सीधे नहीं बताएंगे, कवित्त पर कवित्त, संस्मरण पर संस्मरण सुनाते चले जाएंगे, "बृज भूमि के लोक-साहित्य के प्रभाव और आगरा के साहित्यिक वातावरण ने मिलकर मेरा निर्माण किया। नागरी प्रचारिणी सभा के लिए मैंने गांव-गांव जाकर लोक-साहित्य का संग्रह किया। लोक जीवन में सीधे घुसकर उसका निकट से अध्ययन किया। उस जीवन, जो नाचता है, गाता है, रोता है, खेलता है, से मेरा सीधा नाता रहा। वही मेरी प्रेरणा है। इसी धरती की सुगंध मेरे लेखन में रची-बसी है। जनहित, जनरंजन, जनरक्षण, जनपरिशीलन और परिष्कार की बातें बाद में जुड़ती चली गई हों, मूल प्रेरणा वही धरती है। वह धरती मैंने आज भी नहीं छोड़ी है। मेरे देश का, देश की जनता का दुर्भाग्य है कि आज आदमी जनजीवन से कटकर किसी मत या ग्रुप के साथ जुड़ गया है या बिल्कुल अकेला पड गया है।"

"क्या दिन थे वे भी। रामचन्द्र शुक्ल, मिश्र बंधु, डा० सत्येन्द्र, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का सम्पर्क। एक धुन—प्राचीन साहित्य की खोज करो। पुरानी पोथियां घरों, मंदिरों से खोजी, पढ़ी। 16 साल की उम्र से पूर्व ही यह अध्ययन कर लिया था। मथुरा का माहौल। घर का माहौल—संगीतज्ञों, पौराणिकों का घर। मां को पद याद थे। नाना रासधारी थे। घर के पांडित्य, नृत्य, लोक साहित्य के साथ मथुरा के पुरातत्व का ज्ञान भी हुआ। (मथुरा-संग्रहालय तब बन रहा था। (सस्वर कविता-पाठ करता था और हाथों हाथ उठा लिया जाता था। रामलीला में भाग लेता था।

नौटंकी करता था। शतरंज खेलता था। कुश्ती लड़ता था। तैरता था, मथुरा से वृन्दावन तक, लाठी-तलवार भांजता था। जीवन के रंग में रहा, ये ही रंग आगे साहित्य में खिले।

"चौपड़ से जीतने का दावा रखता था। खेलने में 'कौड़ी बांधने' की कला खूब आती थी—जीतता ही था। जीते पैसों से शाम को भांग छनती थी और अखाड़े के सभी लोग पीते थे। पिता ने इन्हीं बातों पर अलग कर दिया तो कम्पोजीटरी करने लगा। दो पैसे का दही खाता था, छह पैसे की रबड़ी, ज्यादा कमाई हो गई तो चमचम और बचे पैसों से भांग पीता था। पढ़ने का शौक—कवित्त, सवैये, छंद याद करते होते थे। शरद-वर्षा, नायिका-भेद आदि पर चार हजार कवित्त-सवैये याद थे। भटनागर जी, हरिऔध जी आदि साथी मिलकर रस, अलंकार रटते थे। निमंत्रण के लिए इलायची बंटती थी। सरस्वती-वंदना के छंद, गणेश के छंद, गंगा के, यमुना के छंद प्रतियोगिता में पढ़े जाते थे और कानपुर, मथुरा के लोग आपस में एक-दूसरे को चुनौतियां दिया करते थे। आगरा में साहित्यिक गोष्ठियों ने इस क्रम को आगे बढ़ाया। एक बार भारतभूषण, रांगेय राघव, नेमिचंद्र जैन आगरा की गोष्ठी में आए थे। मेरी बारी आई तो पत्रकार के नाते ('साहित्य-संदेश' में काम करता था तब) सृजनात्मक क्या सुनाऊं, यह प्रश्न सामने आने पर ही मैंने 'बाबू गुलाबराय की भैंस कविता सुना दी थी, जिसके 'पंचराज का प्याला' में छपते ही मैं हास्य-व्यंग्य के कवि के रूप में स्थापित हो गया।"

"लेकिन आप हास्य-कविता में पत्नीवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। इसकी प्रेरणा ?"

"प्रेरणा-वैरणा कुछ नहीं, 1940-41-42 के स्वतंत्रता-आन्दोलन में कूदा था। तोड़-फोड़ की। पकड़े जाने के डर से भूमिगत हो गया तो पत्नी के माध्यम से अपनी बात कहने लगा। आजादी के बाद इसी पत्नीवाद के माध्यम से सामाजिक भ्रष्टाचार पर व्यंग्य करने लगा।"

"महामूर्ख सम्मेलन" किसके दिमाग की उपज है ?"

"शत प्रतिशत मेरे दिमाग की।"

"एक बात पूछूं, बुरा नहीं मानिएगा, आपके रसिक, छैला रूप की जो चर्चा है, उसमें कितनी सच्चाई है ?"

"झूठ तो उसे नही कह सकता। पर सच कहूँ, इसके पीछे भी ठोस कारण है। बचपन में मातृहीन हो गया। बहन नहीं, भाभी नही, चाची, ताई, नही। तो जीवन में जो अभाव महसूस किया, उसे अपनी मस्ती से रस का स्रोत जुटाकर प्राप्त किया, रसिकता अपने आपको भुलाए रखने की एक दर्दभरी दास्तान ही समझिए। और सच मानिए कि मैं अंतररस मे ही डूबा, बहिरंग मे नही। वास्तविक प्रेम पाठिकाओ से मिला। पर उसे सात्विक प्रेम ही कहना चाहिए। धीरोदात्त, बलशाली, आकर्षक, नायक की कल्पना संस्कार मे मिली थी। वास्तविक जीवन मे तो मैं ऐसी स्त्रियों के सम्पर्क मे भी आया हूँ, जो विधवा या पति-पीडित होते हुए भी अपने आपको बांधे थी, गिरी नही। इसलिए नारी मेरे लिए आदरणीय है। मेरी धारणा है, नारी पुरुष बनती है, तो राक्षसी हो जाती है, पुरुष नारी-गुण ग्रहण करता है तो उसमें देवत्व आ जाता है। 'पुरुष मील का ही पत्थर, नारी जीवन की यात्रा है।" अब तो हुआ तुम्हारी जिज्ञासा का समाधान ?" फिर उन्होंने जो सुनाया, 'मर्द तो बनाया पर हाथ पैर बाँध दिए, भावना जगाई सिर्फ जिगर जलाने को। मन तो बनाया बादशाहों जैसा ऊंचा, पर भेज दिया कगलों में जीवन बिताने को। आशिक मिजाज किया, रसिको का साथ दिया, भेजी किंतु लैला केवल शिकवे सुनाने को।' उसके पीछे के छिपे दर्द को पढकर लगा, कभी-कभी किन्ही व्यक्तियों के ऊपरी रूप को लेकर लोगो में कैसी-कैसी धारणाएं फैल जाती है ! व्यास जी अपने हास्य-व्यंग्य मे किसी को नही बख्शते, अपने को भी नही। और अपने पर हंस सकना आतरिक ऊर्जा स्रोत बिना क्या सभव है ?

वृजभाषा के कवि, समीक्षक एवं साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ गोपाल प्रसाद व्यास हिन्दी मे व्यंग्य विनोद की नई धारा के और हास्य रस में 'पत्नीवाद' के प्रवर्तक माने जाते है। सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक, व्यंग्य विनोद के प्रतिष्ठा प्राप्त लेखक होने के कारण उन्हे 'हास्यरसावतार' भी कहा जाता है। राष्ट्रीय चेतना के उल्लेखनीय कवि और तपनिष्ठ पत्रकार के रूप में राष्ट्रीय ख्याति है, उनकी। पत्रकारिता क्षेत्र मे साहित्य संदेश' आगरा के बाद 'हिन्दुस्तान' दिल्ली से 35 वर्षों तक जुड़े रहे और साढे तीन साल का अतिरिक्त समय लेकर अवकाश ग्रहण किया। इसके बाद कुछ समय 'दैनिक विकासशील भारत' आगरा के प्रधान सम्पादक बने।

फिर उसे छोड़ आये, 'प्रधान सम्पादकीय करने हो गया था। अब उसे छो
कर सुखी संतुष्ट हूँ।' 1937 से 1983 तक निरन्तर स्तंभ लेखन के ब
अपने बिखरे लेखन को अपने ग्रंथों में समेटने लगे हैं।

"ब्रज साहित्य मंडल" मथुरा के संस्थापक और वर्तमान अध्यक्ष है
अपने जीवन के अन्तिम वर्ष इसी संस्था को समर्पित करने की योजना ब
रहे हैं। खंडकाव्य, कविता संग्रह, व्यंग्य, ललित निबन्ध, जीवनी, वि
यात्रा, समीक्षा आदि पर लगभग 40 पुस्तकों की रचना करने के बाद अ
उनकी भावी योजनाएं हैं: हिन्दी की पुरानी पीढ़ी का साहित्यिक मूल्यांक
कई खंडों में 'बृज वैभव' और 'कहो व्यास, कैसी कटी ?—आत्म कथा
व्यास जी 'साहित्य रत्न' 'साहित्य वारिधि' 'पंडित प्रवर' जैसी उपाधि
से विभूषित हो चुके है। 'राजर्षि टंडन स्वर्ण पदक' भी उन्हें मिला था
भारत सरकार द्वारा पद्मश्री से भी अलंकृत हो चुके है। पर इस विलक्ष
व्यक्ति ने सन 1965 में प्राप्त पद्मश्री का राष्ट्रीय अलंकरण 1967
इसलिए सखेद लौटा दिया था कि उन जैसे आजीवन हिंदी सेवी को हिंद
की उपेक्षा सह्य न थी। जैसे ही राजभाषा पर दूसरा संविधान-संशोधन
आया, उन्होंने यह अलंकरण लौटा दिया।

तृतीय विश्व हिंदी सम्मेलन के अवसर पर उन्होंने पन्द्रह दिनों में
ही एक पुस्तक लिख डाली थी--'बिन हिंदी सब सून'। लेकिन उनकी बढ़ती
आयु के साथ उनकी इस ओर बढ़ती व्यस्तता को देखते हुए, दिल्ली हिंदी
साहित्य सम्मेलन की जो दशा है, उससे दिल्ली वालों को लगता है, उनकी
यह 'सून' वाली बात कहीं दिल्ली की साहित्यिक गति-विधियों पर ही न
लागू हो जाय।

Δ

जन-चेतना और प्रकृति के मनोरम चितेरे

रामनारायण उपाध्याय

'हम तो बाबुल तेरे बाग की चिड़ियां'

'जनम जनम के फेरे'

'मन के मृगछौने'

'सुख के नाम पाती'

ये किन्हीं गीतों की पंक्तियां नही, श्री रामनारायण उपाध्याय की पुस्तकों के शीर्षक हैं। जैसे शीर्षक, वैसी ही रस से ओत-प्रोत, सहज प्रवाहमयी लेखनी। लेकिन क्या मजाल कि कोई रचना कही ढीली या कमजोर हो।

जहा गहरे डूब कर लिखा जाय और लिखकर सहज भाव से उबर आया जाए! दर्द भी जहां स्वय दवा बन जाये या आसमान के घोंसले में रहने वाली 'समय की सोन चिरैया' जिसे लेकर फुर्र से उड जाए! सुख को पाने की इच्छा जहा दुःख को बुलाने का निमंत्रण माना जाय। सितारों की कील-चुभन से जहां आसमान का दिल भर आये। जहां शाब्दिक प्रशंसा से वह निन्दा भली लगे, जिसे रस लेकर तो किया। वही आसपास कहीं राम नारायण उपाध्याय टहलते विचरते मिल जाएंगे। ऐसा ही रस से छलकता, और दुःख से मचलता एक गहरा छरहरा व्यक्तित्व है उनका।

जब कभी खण्डवा जाना होता, उनके साथ-संग और हर आने वाले के प्रति उमड़ती उनकी आत्मीयता-सनी भावभीनी बातचीत का मोह मुझे उनके घर ले जाता या खबर मिलते ही वह स्वयं आ जाते। बातचीत में

कही कोई दुराव-छिपाव नही । एक दम 'जैसा हूँ, वैसा हूँ' वाली मुद्रा में सहज स्पष्ट । न लेखकीय अहम्, न कुंठा-संत्रास की कोई कसक, न बड़प्पन, न आम्डबर । किसी के भी आने पर एकाएक खिल उठते हैं और उसे मानवीय संस्पर्श से अभिभूत किए बिना नही रहते । शायद इसलिये हर एक के साथ उनकी पटरी बैठ जाती है ।

'जनम जनम के फेरे' के एक आलेख—'अपने लेखक से : आमने सामने' में अपने बारे में वह स्वयं भी लिखते हैं, "आपने बच्चों का एक खिलौना देखा होगा। कागज की एक गोल नली में बिल्लौरी कांच के टुकड़े भर कर उसे कितना भी घुमाएं फिराएं, काच के टुकड़े चाहे कितने भी बिखरें-जुड़ें, हर बार उनसे एक फूल अवश्य बनेगा । यह आदमी भी कुछ इसी किस्म का है। इसे आप चाहे जितना सताओ, खिझाओ, यह हर परिस्थिति मे मुस्कराता हुआ नजर आयेगा । इसके अन्दर एक ऐसा त्रिभुज है, जिसकी हर भुजा एक दूसरे से इस कदर जुड़ी है कि उसमें चाहे आप दुःख की कंकड़ी डालें या सुख की पखुडी, वह फूल बनकर ही खिलेगी । वृक्ष की तरह जड़ में नितांत एकाकी, पल्लवो मे सामाजिक और फल मे सार्वजनिक साहित्यकार की इस नियति को इस आदमी ने खूब भोगा है । एक साथ अनेक रूपों में जीने की कला इसने खूब साधी है । इसका लेखक और एक सहज आदमी दोनो एक जुट हो चुके है ।"

उन्हें बच्चों के हो-हल्ले से भरे कमरे मे, बिना कुर्सी-टेबुल के, कही भी बड़ी तन्मयता से लिखते हुए देखकर या काम के क्षणों के बीच कोई मिलने आ जाये तो हाथ के कागजो को तुरंत एक ओर हटा, आगन्तुक से उसी आत्मीयता और तन्मयता से बात करते देखकर आप पूछिये, यह सब एक सहज भाव से वह कैसे कर लेते है ? उत्तर मिलेगा, "लेख का 'लिंक' टूट जाय तो उसे फिर से जोडा जा सकता है लेकिन आदमी आदमी के बीच का रिश्ता टूट कर फिर नही जुड़ा करता । इसलिये लिखने के बीच किसी के आ जाने से लेखन मे व्यवधान नही पड़ता वरन् मानवता का संस्पर्श पाकर वह और भी तेजी से आगे बढता है । मैं जब तक लिखता हूं, तभी तक लेखक हूँ, इसके बाद तुरन्त एक साधारण आदमी बनने में मुझे देर नहीं लगती ।"

उपाध्याय जी जैसा लिखते हैं, बात भी उसी तरह सूत्रों में करते हैं, "*साहित्यकार बड़ा आदमी हो सकता है, पर इस दुनिया मे सबसे बड़ा मनुष्य* है, उससे बड़ा कोई नहीं है" ... "जो दुनिया के नक्शे के पीछे आदमी की शक्ल देखता है, वही सच्चा साहित्यकार है और जो आदमी को कुचल कर दुनिया को बनाने की बात सोचता है, वह कूट राजनीतिज्ञ है।"....."कागज की जमीन से खेतों की जमीन आज भी अधिक उर्वर है। गांव के जीवन की यह विशेषता है कि वहां हफ्तों गुजर जाते हैं, पैसों की आवश्यकता नही पड़ती। मजदूर की कुदाली और किसान का हल मनुष्य की रोटी-दाल की समस्या को सुलझाने में सक्षम हैं। सोचता हूं, कलम इस दिशा मे क्यो असहाय है? हमें वे दिन लाने चाहिए जब कि कलमजीवी साहित्यकार भी अपनी समस्याएं स्वयं सुलझाने मे समर्थ हो।"

श्री रामनारायण उपाध्याय ऐसा सोचते ही नही, व्यवहार-जीवन मे उसे उतारते भी हैं। उन्होंने लिखा ही नही, अपनी आधी से ज्यादा पुस्तकों का स्वयं प्रकाशन भी किया। उनकी यह मान्यता है, "लिखना लेखक की व्यक्तिगत जिम्मेदारी है, लेकिन लिखे हुए को प्रकाशित करना उसका सामाजिक कर्तव्य है।' उपाध्याय जी जिस तन्मयता से पुस्तक लिखते हैं, उसी तमन्यता से उसे प्रकाशित करने कराने में भी जुटते हैं। अपने इस 'सामाजिक दायित्व' को इतनी ईमानदारी से निभाते है कि जिस वर्ष कोई पुस्तक न आ पाये, अगले वर्ष दो आना ही चाहिये। जब भी उनकी कोई पुस्तक छप कर घर आती है, एक स्वजन आत्मीय जन की तरह वह उसका परिचय सबसे कराते हैं। उसकी प्रतियां पारिवारिक जनों, मित्रों और अधिकारी विद्वानों तक पहुँचा कर सुख का अनुभव करते है, "पुस्तक बिक तो जायेगी, लेकिन अगर वह, जो उनके योग्य हैं, उनके हाथों में न पहुँचे तो प्रकाशन से क्या लाभ।.......आप अपनी लड़की का ब्याह रचाते हैं तो उसके लिये कर्ज लेकर भी पैसों का जुगाड़ क्या नही बिठाते, अपने बेटे बेटियों की प्रशंसा सुनकर क्या खुश नही होते? ये पुस्तकें भी तो मेरी बेटियां ही हैं। उनके प्रकाशन के लिए इधर उधर से उधार लेने चुकाने में कष्ट का अनुभव क्यो हो और इन्हे दूसरो से मिलाकर मुझे खुशी क्यों न हो?

उपाध्याय जी की पुस्तकें उनके व्यक्तित्व की तरह ही बहुरंगी, बहु-विधायी, विविध विषयी हैं, जिनके नामों मे भी विविध रंग है। कुछ और शीर्षक देखिए : 'गरीब और अमीर पुस्तकें', 'कुंकुम कलश', और 'आम्र पल्लव', 'नया पंचतंत्र', 'बख्शीशनामा', 'नाक का सवाल', (व्यंग्यात्मक एवं ललित निबंध)।' 'अनजाने जाने पहचाने', 'बोलता हिन्दुस्तान', 'गांधी युग की विभूतियां', 'जिनकी छाया भी सुखकर है', 'युग पुरुष गांधी', (रेखाचित्र-संस्मरण) निमाड़ी लोकगीत', 'निमाड़ी लोक कहावतें', 'जब निमाड़ गाता है', 'चन्दन और पलाश', (लोक साहित्य), 'चतुर चिड़िया', 'सुनो कहानी', (बाल साहित्य) और 'कथाओं की अन्तर्कथाएं (धर्म-पुराण) 'गांधी दर्शन', 'निमाड़ का सांस्कृतिक इतिहास', जैसे गंभीर शोध-अध्ययन ग्रंथ भी।

अभी तक कुल मिलाकर तीस से अधिक पुस्तकें आ चुकी है, जिनमें से पांच पुरस्कृत है। 'चतुर चिड़िया' पर लोक शिक्षण भोपाल द्वारा 1962-63 का 1000 रुपये का पुरस्कार। निमाड़ी लोक-साहित्य-संस्कृति पर मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद द्वारा 1973-74 का 1500 रुपये का 'ईसुरी,' पुरस्कार। 'कुंकुम कलश,' और 'आम्रपल्लव,' पर मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद का ही 1500 रुपये का 'पदमलाल बख्शी पुरस्कार।' 'हम तो बाबुल तोरे बाग की चिड़िया', पर उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा 1979-80 में 2500 रुपये का विशेष पुरस्कार। 'निमाड़ का सांस्कृतिक इतिहास' पर 81-82 का स्वर्ण पदक और 'झवेरचन्द्र मेघाणी पुरस्कार', राजस्थान लोक संस्कृति शोध संस्थान द्वारा कलकत्ता मे।

अभी तक उनकी किसी सशक्त व्यंग्य रचना पर कोई पुरस्कार नही दिया गया, जबकि इस क्षेत्र मे उनकी कई महत्वपूर्ण पुस्तकें है जो चर्चित भी है, लोकप्रिय भी। उनके व्यंग्य लेखन पर बात चलाई तो उनका उत्तर था, "विचार-अभिव्यक्ति के लिये इससे सशक्त और कोई माध्यम नहीं हो सकता। जब किसी समाज का शरीर सुन्न पड़ जाता है तो उसे व्यंग्य की गहरी चुटकी काट कर के ही जगाया जा सकता है।"

"लेकिन आपके व्यक्तित्व और व्यंग्य-लेखन में कोई साम्य मैं नहीं देखती?" उत्तर मिला, "व्यंग्य वही कर सकता है जिसके दिमाग में एक स्वस्थ समाज के निर्माण का नक्शा होता है। अपनी कल्पना के समाज पर चोट होते देखकर जो तिलमिलाहट होती है, उसी मे से तो व्यंग्य का जन्म होता है। जिसमें रचनात्मक साहित्य का निर्माण करने की शक्ति नहीं होती,

वह व्यंग्य कर ही नहीं सकता। व्यंग्य, जो सुई की तरह चुभे और दर्द पैदा न करे। लाल चींटी की तरह काटे और अपने पीछे जलन न छोड़ जाये। इसके अलावा, व्यंग्य वही कर सकता है, जो अपने पर भी हँस सके, व्यंग्य कर सके। ख्वाजा अहमद अब्बास, कृश्नचन्दर, श्रीलाल शुक्ल, केशवचन्द्र वर्मा, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, प्रभाकर माचवे इसीलिये व्यंग्यकार होने के के साथ सफल निबंधकार भी रहे हैं। राजनीतिज्ञों में से आचार्य कृपालानी, महावीर त्यागी जैसे नाम भी इसी श्रेणी में आते हैं।' लेकिन उपाध्याय जी को दुःख है कि व्यंग्य को भी अक्सर हास्य समझ लिया जाता है। "सुप्रसिद्ध व्यंग्य सम्राट बर्नार्ड शा ने कहा था 'समाज की कड़ी से कड़ी आलोचना करने पर भी मैं सरे बाजार कोड़े खाने से इसलिये बच गया हूँ कि लोगों ने मेरी बात को हँसी में उड़ा दिया।' यह इसका लाभ भी है।"

'लोकगीत भारतीय संस्कृति के संदेशवाहक रहे हैं। जहां भी गये, अपने साथ वहां की भाव-भाषा, सभ्यता संस्कृति भी ले गये। गीतों की तरह लड़कियां भी ऐसी चिड़िया हैं, जो जहां भी जाती हैं, अपने साथ वहां की बोली, आचार-विचार रीति-रिवाज, गीत-कथाओं, कहावतों और मान्यताओं के तिनके ले जाती हैं और जाकर नये नीड़ का निर्माण कर लेती हैं।' उपाध्याय जी की पुस्तक 'हम तो बाबुल तोरे बाग की चिड़िया' लड़कियों के जीवन के हास्य-उल्लास, आनन्द-मस्ती और दर्द-व्यथा के इन्हीं विदाई-गीतों का एक प्यारा-सा मार्मिक संग्रह है। इसी तरह 'मन के मृगछौने' कुलाचे भरते छोटे-छोटे विचार और भाव-रूपकों का मनोरम संग्रह है, जिसे पढते हुए मन एक ताजगी से भर उठता है। ······ 'जनम जनम के फेरे' लेखक पाठक को जोडने वाली एक बहुत ही आत्मीय पुस्तक है, जिसमे गाव की मिट्टी की गंध से जुडे, खुलकर हँसने हँसाने वाले, किन्तु एक दृढ संस्कारी व्यक्तित्व की पूरी झलक मिलती है। उनके नये प्रकाशनों में इधर पौराणिक धर्म-कथाओं के पीछे की आधार कथाओ को लेकर लिखी गई पुस्तक 'कथाओं की अन्तर्कथाएं' ने भी मेरे जैसे जिज्ञासु पाठकों का ध्यान खींचा है।

श्री रामनारायण उपाध्याय का जन्म 20 मई, 1918 को कालमुखी ग्राम, खंडवा में हुआ। उनके अनुसार, 'जो कुछ हूँ, अपने विद्वान, सहृदय पिता और धार्मिक प्रकृति की ममतामयी मां की प्रेरणा और संस्कार ऊर्जा के कारण ही।' इसके अलावा, उनका व्यक्तिगत जीवन परिचय न तो उनकी किसी पुस्तक पर छपा मिला, न उन्होंने ही कुछ बताया।

लेकिन उनके घर जाने पर उनकी पत्नी श्रीमती शकुन्तला देवी उपाध्याय से आतिथ्य भी मिला, आत्मीयता भी। संयुक्त परिवार का घर बड़े सदस्यों व बच्चों से भरा पूरा है, लेकिन पता चला, उनकी अपनी कोई सन्तान नहीं, परिवार के सब बच्चे ही उनके अपने बच्चे हैं। पास पड़ोस के और बाहर के भी, बल्कि यूं कहें, सारे साहित्यिक परिवार को ही यह अपना परिवार मानते हैं।

'लोक साहित्य' और' 'गांधी साहित्य' के निष्ठावान अध्येता इस साहित्य साधक ने संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, रूपक, कहानी, निबंध, गद्य-काव्य, व्यंग्य सभी कुछ लिखा है। पिछले 40 वर्षों से सतत साधनारत उपाध्याय जी साहित्यिक भूमिका के साथ सत्यम् शिवम् व्यंग्य के लिए विख्यात हैं और रूपकों की नवीन विधा के माध्यम से धरती, प्रकृति, लोक जीवन के मनोरम चितेरे हैं। उनके संस्मरणों में ग्राम जीवन के अतीत के दृश्य जितने सुन्दर सजीव बन पड़े हैं, उनमें अपनी जड़ों से कट जाने का दर्द भी उतना ही तीखा है। मनुष्य की पहचान खो जाने और रिश्तों की मधुरता भंग हो जाने का दर्द। इधर साहित्यिक क्षेत्र में भी जिस प्रकार परस्पर कटाव की स्थिति बन आयी है और हर बुद्धिजीवी स्वयं अकेलेपन का दर्द झेलते हुए भी इस खाई को पाटने के लिये कुछ नहीं कर रहा है, मैंने अपनी पिछली भेंट में उनके भीतर यह दर्दीला अहसास भी उभरता हुआ पाया, 'हम सब साहित्यकार लोग एक परिवार के सदस्य जैसे थे। आज तो विचित्र स्थिति है। हम लोग एक दूसरे को काटने में लगे हुए है। आर्थिक हानि उठाकर भी स्नेह उपहार के रूप में अपनी पुस्तकें भेजो, उन्हें कोई पढ़ना तक गवारा नही करता। कई बार तो धन्यवाद क्या, पहुँच तक का पत्र नही मिलता। इससे अधिक शोचनीय स्थिति हमारे लिये क्या हो सकती है।

निरन्तर आस्थवान रहे रामनारायण उपाध्याय जी में यह निराशा मैंने पहली बार देखी। आज के समय की विडम्बना और उनके दिनोदिन क्षीण होते स्वास्थ्य का ही असर हो सकता है यह। लेकिन उनकी इधर की रचनाएं भी उनके व्यक्ति की इस निराशा से सर्वथा अछूती हैं। उनमें वही गाव की मिट्टी की सौधी गंध है, वही मानवीय स्पर्श, वही दर्द का उदात्तीकरण और वही आस्था का, रस का छलकता कलकल करता प्रवाह।

△

'पद्मश्री' से अलंकृत

आचार्य क्षेमचन्द्र सुमन

स्थान राष्ट्रपति भवन का प्रांगण। अवसर 'दिवंगत हिन्दी सेवी' ग्रन्थ के द्वितीय खंड का विमोचन। राष्ट्रपति जी अपने भाषण में कहते हैं, 'एक अकेला व्यक्ति इतना बड़ा काम कर सकता है, यह इसका ज्वलंत प्रमाण है। मैं ऐसे तपस्वी लेखक से बहुत प्रभावित हुआ हूँ। इस कार्य के लिए उन्हें जब भी कोई कठिनाई आए, वह मेरे पास आ सकते हैं।' और ये शब्द सुनते ही 'दिवंगत हिन्दी सेवी' ग्रन्थ के लेखक आचार्य क्षेमचन्द्र सुमन की आंखों में आसू तैर आते हैं। शायद उन्हें इस ग्रन्थ की सामग्री जुटाने के दौरान अपनी भटकन और इसके भी पीछे के अपने जीवन-संघर्षों की याद हो आई थी। हम दर्शकों को लगा 'उनके लम्बे जीवन के अथक कार्य की पहचान इस ग्रंथ के माध्यम से ही हो पाई है' वह भी देर से। ये आसू उसी संघर्ष और सघर्ष, लेखन और लेखन की बिना पहचान लम्बी यात्रा की कहानी कह रहे थे।

'दिवगत हिंदी सेवी' ग्रंथ के प्रथम खड का विमोचन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरागांधी ने किया था।

इस समारोह से पूर्व सुमन जी से 'साहित्य अकादमी' में और बाहर साहित्यिक गोष्ठियों, सभा-समारोहों में कई बार मिलना हुआ। एक बार थोड़ी देर के लिए घर पर भी आए। हमेशा आत्मीय स्वजन की तरह का व्यवहार उनसे मुझे मिला। लेकिन उनसे प्रथम भेंट के बहुत पहले पह-

चान दी, उनके एक के बाद एक पर्ट पत्रों से, जब वह 'हिंदी कवयित्रियों के प्रेमगीत' संकलन के लिए कविताएं जुटा रहे थे । मैंने उन्हें दो बार निराश किया कि मेरे पास कोई प्रेमगीत नहीं है । पर वह कहां छोड़ने वाले थे । नही था, तो उन्होंने पीछे पड़कर मुझसे लिखवा लिया—

'जादू भया मनुहार प्यार की
प्रिय अम्बर से कभी न उतरे ।'

सुमन जी ने इसे भी स्वीकार किया और अपने ग्रंथ में स्थान दिया। इसके कुछ वर्षों बाद उनसे पहली बार भेंट हुई थी । लेकिन वह इस पंक्ति को भूले न थे । छूटते ही बोले, 'तुम्हारा भी जवाब नहीं । बहुत पसंद किया गया तुम्हारा गीत ।' और अब इतने वर्षों की पहचान के बाद उन्हें 'पद्म श्री' से अलकृत किए जाने पर जब मैंने उनके सम्मान-समारोह में सम्मिलित हो, उन्हे बधाई दी तो देखा, इस अवसर पर सबकी बधाइयों के बीच भी उनकी आंखें छलक-छलक पड़ रही थी । मुंह से इतना भी कठिनाई से निकाल पाते, 'यह ईश्वर कृपा और आप सब के स्नेह-आशीर्वाद का ही फल है ।'

क्षेमचन्द्र 'सुमन' हिन्दी के एक ओजस्वी कवि और निष्ठावान साहित्यकार हैं । पहले आर्यसमाजी चिंतन व फिर गांधी प्रभाव से उनके लेखन पर धर्म, संस्कृति, राष्ट्रीयता और तेजस्विता की छाप है । स्वय स्वतंत्रता सेनानी रहे है तो क्रातिकारियो पर भी लिखते रहे है । राष्ट्रभक्ति से ओत-प्रोत उनकी कविताओ और लेखो से क्षुब्ध होकर ब्रिटिश सरकार ने 1942 मे उन्हे गिरफ्तार कर लिया था व उनके कार्यक्षेत्र लाहौर से निष्कासित कर उन्हे उनके घर बाबूगढ मे दो वर्ष के लिए नजरबंद कर दिया था। नजरबंदी के दौरान उन्होंने जो देशभक्ति की कविताएं लिखीं, वे आगे चलकर 'बंदी के गान' कविता-संग्रह मे सकलित हुईं ।

सुमन जी का जन्म सरस्वती-उपासको की एक ऐसी श्रेणी के परिवार मे हुआ, जिनकी समर्पित साधना आज दुर्लभ होती जा रही है। गाजियाबाद जनपद के छोटे से गाव बाबूगढ में जन्म हुआ किन्तु उनका कार्यक्षेत्र पंजाब रहा । गुरुकुल, ज्वालापुर, हरिद्वार के आर्यनेता श्री प्रकाशवीर शास्त्री उनके सहपाठी थे । पढाई समाप्त करने के बाद उन्होने लाहौर के 'हिन्दी मिलाप' के सम्पादकीय विभाग मे कार्य किया । उसी समय वह स्वामी सत्य-

देव परिव्राजक, भाई परमानन्द जैसे राष्ट्र-नेताओं के सम्पर्क में आए। महात्मा अनंतस्वामी और लाल जगतनारायण जैसे पत्रकारों के सम्पर्क में रह कर भी सीखा।

आजादी के बाद सुमन जी कुछ वर्षों तक अमेठी रियासत के राणा रणंजय सिंह के यहां रह कर 'मनस्वी' पत्रिका का सम्पादन करते रहे। इसके बाद मुरादाबाद जनपद के धनौरा मंडी से उन्होंने 'शिक्षा सुधा' निकाली। दिल्ली की 'आलोचना' का संपादन भी किया। फिर 'साहित्य अकादमी' की सेवा में आ गए। वहीं से अवकाश ग्रहण कर अब दिवंगत हिन्दी सेवियों के श्राद्ध में लगे हैं। सुमन जी बताते हैं, 'इसके दो खंड प्रकाशित हो चुके हैं। पूरी योजना लगभग दस हजार हिंदी सेवियों को लेकर 800-800 पृष्ठों के दस खंड प्रकाशित करने की है, जिसका कार्यकाल सन् 1800 में भारत में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना से प्रारंभ किया गया है। तीसरा खंड तैयार हो रहा है, पर अभी तो सात शेष हैं। इस योजना को सरकार ने स्वीकृति प्रदान की है। पर दिवंगत हिन्दी सेवियों के चित्र और प्रामाणिक जानकारी जुटाने के लिए मैंने पूरे देश की यात्रा की है। सुदूर गांवों तक पहुँच कर दुर्लभ सामग्री जुटाई है। अपने जीवन में यदि इस यज्ञ को पूरा कर पाया तो अपने को धन्य मानूंगा। दिवंगत हिन्दी सेवियों की खोज मेरे जीवन का मिशन है और उनका श्राद्ध मेरी अंतिम अकांक्षा है।' पर लोग हैं कि इस गंभीर बात को लेकर भी उनसे ठिठोली करते हैं। विशेष रूप से प्रौढ़ और वयोवृद्ध साहित्यकार, 'सुमन जी' हमें भी अपनी प्रतीक्षा-सूची में अभी से रख लीजिए। न जाने कब ...... ?' और सुमन जी हँस कर इतना भर कह देते हैं, 'भई, यह 'कब' तो किसने देखा है? मैं स्वयं क्या सूची में नहीं लगा हूँ?' पर तभी सब ओर से उन पर शुभकामनाओं की वर्षा होती है, 'अभी तो आपने अगले सभी खंड पूरे करने हैं, ईश्वर आपको शतायु करें।' और सुमन जी फिर भाव-विभोर हो अपने नयन भर लाते हैं। ऐसा ही भावुक और संवेदनशील स्वभाव है उनका।

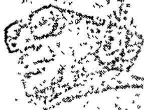
सुमन जी ने इन ग्रंथों के लिए भारतीय ही नहीं, विदेशी हिन्दी-सेवियों को भी सम्मिलित किया है, मारीशस की यात्रा के दौरान यही जानकारी एकत्रित करते रहे। संसार के हर देश में बसे हिन्दी लेखकों से पत्र व्यवहार कर सामग्री जुटाते जा रहे हैं। अपनी इस खोज के दौरान

उन्हें अहिन्दी राज्यों से हिन्दी लेखन, पत्रकारिता में पहल करने वाले ऐसे अनेक अज्ञात लेखकों का जो परिचय मिला है, यह हिन्दी के लिए इस खोज की एक अतिरिक्त महत्वपूर्ण उपलब्धि है। सुमन जी कहते हैं, 'क्षेत्रीय लोक-गायकों, अच्छे स्तर के छोटे पत्रों के आदर्श सम्पादकों, ग्रामीण लेखकों और कवियों को भी उचित सम्मान दिया जाना चाहिए। तभी हम जनपदीय व क्षेत्रीय साहित्य को उचित स्थान दिला सकते हैं।'

उनके लिखे व सम्पादित दो दर्जन से ऊपर ग्रंथों में से प्रमुख हैं: 'मल्लिका', 'बदी के गान', 'जीवन ज्योति', 'हिंदी साहित्य: नए प्रयोग', 'साहित्य सोपान', 'साहित्य विवेचन', 'स्वाधीनता संग्राम', 'नेताजी सुभाष', 'चीन को चुनौती', 'हमारा संघर्ष', 'आजादी की कहानी', 'काग्रेस का संक्षिप्त इतिहास', 'उर्दू साहित्य', 'तेलुगू साहित्य', 'मराठी साहित्य', 'बगला साहित्य', 'गुजराती साहित्य', 'तमिल साहित्य', 'प्राकृत साहित्य', और भोज-पुरी अवधी, मालवी आदि लोक साहित्य पर भी उन्होंने साधिकार लिखा है। उनकी कुछ अन्य चर्चित व लोकप्रिय पुस्तकें हैं: 'रेखाए और संस्मरण', 'नीरक्षीर', 'आधुनिक कवयित्रियो के प्रेमगीत,' 'नारी तेरे रूप अनेक,' आदि।

सुमन जी साहित्य मे अश्लीलता के कड़े विरोधी हैं और भारतीय मूल्यो के प्रबल समर्थक। सुमन जी का बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, पश्चिम बंग साहित्य सभा आदि संस्थाओं ने समय-समय पर अभिनदन किया है तथा उन्हें 'पत्रकार शिरोमणि' तथा 'साहित्य मार्तण्ड' आदि उपाधियाँ भी प्रदान की है। उनके प्रशसकों व मित्रो ने मिलकर उनकी पचासवी वर्षगाठ पर उनका शानदार स्वागत किया था। इस अवसर पर प्रकाशित 800 पृष्ठों का अभिनदन ग्रथ 'एक व्यक्ति एक संस्था' उन्हे तत्कालीन उपराष्ट्रपति (स्वर्गीय) डा. जाकिर हुसैन के हाथों भेंट किया गया। यह ग्रथ हिंदी भाषा मे अपने ढंग का अकेला है, जो सुमन प्रशस्ति के अलावा, अपने समय का एक दस्तावेज भी है। 'दिवंगत हिंदी सेवी' ग्रंथ योजना के लिए उन्हे शिक्षा मंत्रालय ने 'सीनियर फैलोशिप' दे कर उनके इस अभियान में आर्थिक सहायता पहुँचाई है।

गणतंत्र दिवस 1984 पर जब उन्हें भारत सरकार की ओर से 'पद्मश्री' से अलंकृत किया गया, तो मित्रों के बीच भी उनकी निर्विकार प्रतिक्रिया थी, 'यह मेरा नहीं, हिंदी का सम्मान है और सम्मान है, हिंदी सेवियों का।' □



स्वयं में एक संस्था

यशपाल जैन

शायद् सन् 1957। महू, मध्यप्रदेश स्थित मेरे निवास पर अचानक एक दिन भाई विष्णु प्रभाकर के साथ एक सज्जन पधारे। विष्णु जी ने ही परिचय दिया, 'यशपाल जी हैं।' विष्णु जी यशपाल जी के साथ मांडव-यात्रा पर निकले थे कि बीच में थोड़ा समय निकाल कर मेरे घर आ गए। इसके पूर्व विष्णु जी से भी मेरा थोड़ा ही परिचय हो पाया था—कुछ पाठक के नाते पत्र-व्यवहार से व एक बार दिल्ली आकर उनसे भेंट द्वारा। पर यशपाल जी से यह मेरी पहली भेंट थी। महू के सामाजिक कार्यक्षेत्र में कार्य करते हुए कभी-कभी मैं बीच में कुछ लिख छप भी लेती थी, पर लेखिका रूप में तब विशेष जानी नहीं जाती थी। अचानक इन महत्वपूर्ण अतिथियों को अपने घर पाकर मैं अपने में सिमट सी आई थी। उसी संकोच भरे वातावरण में जैसा-तैसा थोड़ा आतिथ्य, थोड़ी बातचीत। फिर वे अपनी यात्रा के इस पड़ाव से आगे निकल गए थे और मैं सोचती रह गई थी, 'यह यशपाल जी कौन से है ?' 'झूठा सच' वाले या 'सस्ता साहित्य मंडल' वाले ?

1959 में मेरे दिल्ली आ जाने के बाद तो भाई यशपाल जैन भी अक्सर सम्पर्क में आते रहे। उन दिनों विष्णु प्रभाकर जी से भी कभी-कभार 'सस्ता साहित्य मंडल' में ही मिलना होता था, क्योंकि काम के लिए आते-जाते उनके घर अजमेरी गेट के बजाय कनाट सर्कस स्थित कार्यालय ही मुझे अधिक अनुकूल पड़ता था। इस तरह भाई विष्णु जी के माध्यम से कब यशपाल जी भी मेरे बड़े भाई जैसे हो गए, यह पता ही नहीं चला। निरंतर

सम्पर्क न रहने पर भी अगर संस्थाओं में, गोष्ठियों में भेंट हो जाती, एक-दो बार घर भी आए—यही आत्मीयता, यही बड़े भाई का सा स्नेह: पूर्ण व्यवहार। यही नहीं, अक्सर देखा, हर किसी से मिलते समय वह उन्हें वरसों से परिचित का-सा व्यवहार देते हैं। सीधे, सहज, सामने वाले व्यक्ति से उसी के धरातल पर खड़े होकर मिलते हुए। इतने वर्षों से "सस्ता: साहित्य मंडल' जैसी संस्था को सफलता से चलाते वह स्वयं में एक संस्था वन चुके है, तो इसके पीछे भी शायद यही राज़ है—उनकी मिलनसारिता और लगभग हर सभा, गोष्ठी में उनकी उपस्थिति।

सस्ता साहित्य मंडल के प्रारंभ और इस संस्था के साथ उनके जुड़ने के बारे मे पूछने पर यशपाल जी बताते है, कि 'मंडल की स्थापना 1925 में गांधी जी के आशीर्वाद और श्री जमुनालाल जी बजाज की प्रेरणा व प्रयत्न से अजमेर में हुई थी। 'तिलक स्वराज्य फंड' से जमुनालाल जी ने 25 हजार रुपए दान स्वरूप दिलवाए थे। बाद मे श्री घनश्याम दास बिड़ला आदि दाताओ से कुछ राशियां और मिली। कुल मिलाकर 80 हजार का कोष स्थापित हो गया। इस प्रारंभिक राशि को छोड़ कर, फिर 'मंडल' ने जनता से या किसी सरकार से कोई आर्थिक सहायता नही ली। उद्देश्य था, जनसाधारण के लिए सस्ते से सस्ते मूल्य में हिन्दी में उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण और प्रकाशन। इस प्रकाशन कार्य मे मुनाफ़े की भावना को कोई स्थान न तब था, न अब है। इसे लोकहितार्थ संस्था के रूप में ही पंजीकृत कराया गया था और अब तक संस्था के इस स्वरूप को बनाए रखने का भरसक प्रयत्न किया गया है।

'मंडल' द्वारा अब तक सभी प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं की रचनाएं, जीवनियां और संस्मरण छापे जा चुके है। अन्य साहित्य भी वही छापा जाता है, जो जीवन निर्माण के लिए प्रेरणा बन सके। मंडल ने अपना पहला प्रकाशन 1925 मे गांधी जी की पुस्तक 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' से प्रारम्भ किया। गांधी जी की और नेहरू जी की लगभग सभी प्रसिद्ध पुस्तकें यहीं से प्रकाशित हुई। श्री राजगोपालाचार्य, आचार्य विनोबा भावे, काका साहब कालेलकर, श्री घनश्यामदास बिड़ला, हरिभाऊ उपाध्याय, वियोगी हरि, हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा अन्य प्रसिद्ध लेखकों, नेताओं व विचारकों की पुस्तकें प्रकाशित करने के साथ, अनुवाद के माध्यम से पश्चिमी

विद्वानों, विचारकों को हिन्दी मे प्रस्तुत करने का गौरव [illegible] 'मंडल' को प्राप्त [illegible] है। 1934 में मंडल का कार्यालय दिल्ली आया और 1937 से आज तक मैं इसके साथ जुड़ा हूँ।'

'उस समय आपकी उम्र तो अधिक नहीं रही होगी, क्या आप लेखक या सम्पादक के रूप में जाने जा चुके थे ? इस संस्था के साथ कैसे जुड़े ?' मेरी इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए उन्होंने कहा, 'मेरा जन्म 1 सितम्बर, 1912 को उत्तर प्रदेश में अलीगढ़ जिले के अंतर्गत विजयगढ़ कस्बे में हुआ। साहित्यिक परिवेश मुझे अपने घर से ही मिला। पिता श्री श्यामलाल जैन उर्दू फारसी के अच्छे ज्ञाता थे। दादा भी इन्हीं भाषाओं में काव्य रुचि रखते थे। मां लक्ष्मीदेवी से मुझे धार्मिक, नैतिक संस्कार मिले। कहानियां लिखने की प्रेरणा भी। छात्र जीवन से ही मैं लिखने लगा था। 1934 में स्नातक बना। 1936 में कानून की परीक्षा पास की। तब तक लेखक रूप में स्थापित हो चुका था।

"1938-39 में मैंने दिल्ली में 'हिन्दी विद्यापीठ' की स्थापना की। श्री मोहनसिंह सेंगर, श्री जैनेन्द्र कुमार, डा. नगेन्द्र जैसे लोग विद्यापीठ से जुड़े थे। एक-डेढ़ वर्ष तक विद्यापीठ का संचालन करने के दौरान 1940 में विद्यापीठ के एक समारोह में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी पधारे और मेरे कार्य से प्रभावित हो, मुझे एक महीने के लिए कुंडेश्वर (टीकमगढ़) आने का निमंत्रण दे गए। बहुत आग्रह हुआ तो मैं गया और कुंडेश्वर के प्राकृतिक सौंदर्य में बंधा 6 वर्ष तक वहीं जम गया। 1946 में दिल्ली लौटा और फिर मंडल से जुड़ा। तब से आज तक कभी मंडल से अलग नहीं हुआ। इस बीच की अवधि में भी 1938 में मैंने दिल्ली की 'जीवन सुधा' पत्रिका का भी संपादन किया। 1938 में ही मेरा पहला कहानी-संग्रह 'नव प्रसून' आया, जो मैट्रिक के पाठ्यक्रम में निर्धारित रहा। मिलाप, प्रभात, दैनिक भारत, माया, चित्रपट, सचित्र दरबार आदि पत्रिकाओं में छपता रहता था। 1940 में 'मंडल' से मासिक पत्रिका 'जीवन साहित्य' भी आरंभ कर दी गई थी। समाज का अहिंसा के आधार पर नवनिर्माण करना इस पत्रिका का उद्देश्य था और इसी उद्देश्य को लेकर पत्रिका आज तक चल रही है। श्री हरिभाऊ उपाध्याय इसके सम्पादक थे, बाद में हिन्दी के विख्यात कवि स्व. सुधीन्द्र जुड़े। सन् 1946 में कुंडेश्वर से दिल्ली आने पर और सुधीन्द्र

के सरकारी नौकरी में चले जाने पर मैं संबद्ध हुआ। पत्रिका के संपादन का सारा भार मुझ पर ही रहा। आज तक है। मंडल की संचालक समिति में अनेक वर्ष से रहा हूं और अब 1975 से मैं इसका मंत्री हूं। बहुत उतार-चढ़ाव देखे हैं।

"आज, जबकि कागज, छपाई आदि के मूल्यों में भारी वृद्धि हो गई है, मंडल की पुस्तकों का मूल्य कम रख पाने, कमीशन-दरों आदि को देखते हुए अन्य प्रकाशकों के साथ बिक्री प्रतियोगिता में कैसे टिक पाते हैं? क्या बड़े लोगों और राष्ट्रीय नेताओं के प्रभाव से 'मंडल' का कार्य आसान हो जाता है या अन्य कोई कारण भी है, इस सफलता के पीछे? वैचारिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से आप 'मंडल' के उद्देश्यों में कहां तक सफल हैं?"

'मैं तो क्या, मंडल अपने उद्देश्यों में बहुत हद तक सफल है। इसके कई कारण हैं। पर मुख्य बात यह कि मंडल ने कभी व्यावसायिक दृष्टि नहीं अपनाई। हम व्यवस्था पर बहुत खर्च-भार नहीं डालते। हमारे अधिकांश कार्यकर्ता पुराने हैं और वे वैतनिक कर्मचारी की भावना से नहीं, संस्था के प्रति प्रतिबद्ध होकर मिशनरी भावना से काम करते हैं। यदि मैं प्रकाशन संस्थान से अधिक सुविधाएं, अधिक पैसा लेने लगूं तो नीचे की भी अधिक वेतन-सुविधाओं की मांग को कैसे रोका जा सकता है? यह व्यावसायिक प्रकाशन नहीं, प्रकाशन संस्था है और संस्था की भावना से ही यहां काम होता है। विख्यात उद्योगपति श्री घनश्यामदास बिड़ला इसके आरम्भ से ही अध्यक्ष रहे, फिर श्री भागीरथ कनोड़िया और अब श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला अध्यक्ष है। भूतपूर्व राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र बाबू मंडल के संरक्षक रहे और नेहरू जी, विनोबा जी, काका साहब कालेलकर जैसे महानुभावों का साथ सहयोग और गांधी जी का निर्देशन मंडल को मिलता रहा, यह ठीक है पर यह भी सच है कि मंडल ने न तो शासन से, न इन लोगों के माध्यम से किन्हीं संस्थाओं से अनुदान लिया। पुस्तक प्रेमी किसी विशेष पुस्तक के लिए कभी-कभी कागज की व्यवस्था कर देते रहे। इसके अलावा, हमने एक हजार की धरोहर राशि की एक योजना भी सत्साहित्य के प्रसार की भावना से चलाई थी। पांच वर्ष के लिए यह राशि रखकर सदस्यों को मंडल के प्रकाशनों का पूरा सेट व उस अवधि में प्रकाशित सभी नई पुस्तकें भेंट स्वरूप दी जाती थी। आप सुनकर हैरान होंगी कि धरोहर रखने वाले ऐसे

450 पुस्तक प्रेमियों मे से वाद में काफी लोगों ने अपनी धरोहर राशि वापस ही नही ली। इस तरह मडल के प्रकाशनो का कम मूल्य रखना सभव हो पाया। यह वात भी आपको वता दूं कि हमारी इस प्रकाशन संस्था में आज तक रायल्टी को लेकर किसी लेखक के साथ किसी तरह का झगड़ा नही हुआ। इसलिए कि संस्था के आदर्श ऊपरी नही, ऊपर से नीचे, कार्य से लेकर लेखकों और कर्मचारियो से व्यवहार तक फैले हैं।

'जहां तक प्रकाशनों की बिक्री और वडी पाठक संख्या का प्रश्न है, वहां भी मंडल अपने उद्देश्य में असफल नही है। सस्ते वाजार, साहित्य की दिनोदिन वढ़ती मांग के वावजूद, एक संस्कारी पाठक वर्ग आज भी है, जो हल्के साहित्य से सतुष्ट नही, सत साहित्य पढ़ना चाहता है और अपने वच्चो को प्रेरक साहित्य देना चाहता है। सस्ते मूल्य की दृष्टि से भी और नैतिक, आध्यात्मिक (साम्प्रदायिक नही) दृष्टि से भी, मंडल के प्रकाशन घरों और शिक्षा संस्थाओं में खरीदे जाते हैं। आज वढ़ चढ कर कमीशन देने की होड़ में अन्य प्रकाशक भले ही अपनी महंगी पुस्तकें खपा लें, कही-कही कम कमीशन देने के कारण मडल की खरीद को इन्कार भी कर दिया जाए, फिर भी मंडल की पुस्तकें अपनी गुणवत्ता के कारण खरीदी ही जाती हैं। पैसे की कमी से हम चाहकर भी अधिक पुस्तकों का प्रकाशन नही कर पाते, न वड़े परिमाण में पुस्तकों के संस्करण ही कर पाते हैं लेकिन हमें यह संतोष तो है कि हमारी पुस्तकें न तो पाठक की जेब पर डाका डालती हैं, न उसे गुमराह करती हैं। वे जितना मूल्य पाठक से लेती हैं प्रेरणा के रूप में उससे अधिक उसे देती हैं। यदि पाठकों के मन में देशप्रेम और स्वाभिमान की भावना जगाने और उन्हें मानवीय मूल्यों की ओर उन्मुख करने में ये कुछ भी सफल होती हैं तो हमारा प्राप्य हमे मिल जाता है।'

'आपको गांधीवादी चिंतक, लेखक माना जाता है। आजादी के वाद समाज और साहित्य को गांधीवादियों और वुद्धिजीवियों की देन पर आप कुछ कहेंगे?' यह प्रश्न मैंने कुछ झिझकते हुए उनके सामने रखा था, पर यशपाल जी का बेझिझक उत्तर 'मिला, स्वराज्य मिलने के वाद गांधीवादी और वुद्धिजीवियों ने देश को जितना धोखा दिया है, उतना शायद अन्य किसी वर्ग ने नही। उससे अधिक क्या कहूं, आप जानती ही हैं।' मैंने फिर कुरेदा, 'लेकिन आप स्वय भी तो गांधीवादी हैं।' उसी सहज भाव से उत्तर मिला,

'मैं तो जहां से चला था, आज भी वहीं हूं। 'मंडल' के माध्यम से और मेरे लेखन के माध्यम से भी सभी जानते हैं मुझे। फिर भी आज के माहौल में कठिनाई नहीं लगती, ऐसा कहना गलत होगा। गांधीवादी कहलाता हूं, इस-लिए यह कठिनाई बाहर कम है; आंतरिक अधिक। संघर्ष काल, साधना-काल, पीछे छूट गया है। आज तो भोग काल है। लेकिन एक समय बाद इससे भी वितृष्णा होगी। तब बदलाव भी आएगा। पर अंग्रेजियत के रहते नहीं, मूल्यों का बदलाव हिंदी के माध्यम से ही आएगा, क्योंकि वही जन-जन की वाणी है। नीतियां-रीतियां बदलें तो दिशा बदल सकती है।' बात 'तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन' के दिनों हो रही थी। इस संदर्भ में उनकी यह प्रति-क्रिया बहुत सार्थक लगी।

देश के लगभग सभी वरिष्ठ नेताओं, साहित्यकारों और हिन्दी सेवियों के सम्पर्क में रहने और देश विदेश की अनेक यात्राएं करने वाले श्री यशपाल जैन अनेक संस्थाओं से भी जुड़े हैं। इस नाते उनके सम्पर्क सूत्र व्यापक हैं। (इसका भी लाभ मंडल को मिलता होगा) उनका जीवन अध्ययन बहुत गहरा है। चिरयात्री के रूप में उनके पास पर्यटन-अनुभव भी बहुत हैं, जिन्हें समय समय पर वह धारावाहिक संस्मरण मालाओं द्वारा पाठकों के सम्मुख भी लाते रहे हैं। उनकी यात्रा पुस्तक 'रूस में 46 दिन' पर उन्हें 'सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार' मिल चुका है। यही पुरस्कार उन्हें 'सेतु-निर्माता' नामक उनकी संस्मरण पुस्तक पर पुनः मिला। इसके अलावा, उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने इन्हें 'साहित्य वारिधि' की और नई दिल्ली जैन समाज ने 'साहि-त्य रत्न' की उपाधि देकर सम्मानित किया। मेरठ की 'वीर निर्वाण भारती' की ओर से 'वीर निर्वाण भारती' पुरस्कार भी उन्हें मिला। लेकिन लगता है, उनके कार्य का मूल्यांकन अभी ठीक से हो नहीं पाया है। शायद इसी-लिए उनके सत्तर वर्ष पूरे करने के बाद उन्हें अभिनंदन ग्रंथ भेंट कर इस भूल को सुधारा गया जबकि यह कार्य उनकी षष्ठिपूर्ति के अवसर पर ही किया जाना था। वस्तुतः ग्रंथ की बात उस समय उठी थी पर यशपाल जी ने उसे स्वीकार नहीं किया। बड़े सुन्दर रूप में एक विशाल हस्तलिखित ग्रंथ तैयार हुआ जिसे समारोह पूर्वक एक विराट सभा में श्री जगजीवन राम द्वारा उन्हें समर्पित किया गया।

यशपाल जी ने अपने आप को अपनी प्रकाशन संस्था में खपाने के बाद, अन्य संस्थाओं व कार्यकलापों में भी इतना खपा लिया कि उनके भीतर

क्या लेखक उभर नही सका। वैसे उन्होंने 'जीवन साहित्य' की महत्वपूर्ण संपादकीय रचनाओं से लेकर कथा साहित्य, निबन्ध, संस्मरण, शब्दचित्र, यात्रावर्णन, जीवनी साहित्य, अनुवाद, भूमिका लेखन आदि रूपों में बहुत कुछ लिखा है। पर उनकी पहचान अधिकतर निबंधकार के रूप मे ही है। अपने लेखन मे मानवीय मूल्यो की स्थापना के लिए वह निरंतर सचेष्ट रहे और 'मंडल' के माध्यम से भी जीवन-निर्माण हेतु प्रेरक साहित्य को सींचते रहे। इस नाते भारतीय समाज व साहित्य को उनकी देन कम नही है। पर एक भुक्तभोगी के नाते मैं कह सकती हूँ कि मिशनरी भावना से उद्देश्यपूर्ण लेखन को समर्पित लेखकों की शायद नियति है कि वे लेखक समुदाय (पाठक समुदाय नहीं) की उपेक्षा के शिकार हों। फिर भी मेरी मान्यता है कि वर्तमान संक्रांति काल के बाद समाज को दिशा देने वाले प्रेरक साहित्य की फिर से कद्र होगी और कद्रदान ऐसे लेखकों के उद्देश्यपूर्ण लेखन पर शोध भी करेंगे। 

शिक्षा शास्त्री, चिंतक साहित्यकार

विजयेन्द्र स्नातक



एक दिन अचानक फोन मिलता है। उधर से सुप्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री और चिंतक साहित्यकार डा. विजयेन्द्र स्नातक का नाम सुनकर मैं चौंकती हूँ। स्नातक जी ने मुझे कैसे याद किया? तभी पता चलता है कि 'केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड', दिल्ली ने कक्षा 9-10 की पाठ्य-पुस्तक के लिए मेरी एक रचना ली है और अनुबध-पत्र भेजने के लिए स्नातक जी मेरे घर के पते की पुष्टि चाहते हैं।

मैं पहले शिकायत के स्वर मे बोलती हूँ, 'मैं मध्यप्रदेश और दिल्ली से जुडी हूँ। पर मेरी रचनाए केरल, महाराष्ट्र मे एक अरसे से पढाई जा रही है। गुजरात भी अपने पाठ्यक्रमो मे मेरा नाम शामिल कर चुका है। लेकिन मेरे अपने प्रदेशो—भोपाल और दिल्ली को अभी तक मेरी याद क्यो नही आयी थी?'

इस शिकायती स्वर का भी उधर से विनम्र, मृदु उत्तर मिलता है, 'आपके काम की पहचान रखने वाला कोई व्यक्ति यहां होता तो ऐसा न होता। अब मैं यहा इस कमेटी मे हूँ तो आपका नाम भला कैसे छोड़ सकता हूं।'

और मैं शिकायत भूल, गद्‌गद् हो उठती हूँ, विशेष रूप से इसलिए कि दिल्ली के शिक्षा जगत से मेरा कभी कोई नाता नहीं रहा। बाहर बड़ी गोष्ठियो-सभाओं मे कभी कभार सामना होने के अलावा, स्नातक जी से भी मेरा कभी निकट परिचय नहीं रहा। उनकी व्यस्तताओं से भी मैं अप-

रिचित नही। इस सबके बावजूद, उन्होंने मुझे पढ़ा, मेरे लेखन की पहचान की और याद रखा। इसे एक सुखद संयोग और अपना सौभाग्य ही कह सकती हूं।

इसके शीघ्र बाद राष्ट्रपति भवन में आयोजित पुस्तक-विमोचन के एक समारोह में स्नातक जी से पहली बार आमने-सामने बातचीत होती है और एक पाठिका के नाते मन पर पड़ी उनकी पूर्व छाप और गहरी हो जाती है। इस चिंतक साहित्यकार के बारे में मैंने जो पढ़ा-सुना था, उनके व्यक्तित्व को वैसा ही पाया।

गंभीर मनन-चिंतन की छाप डा. विजयेन्द्र स्नातक के चेहरे पर तो अंकित रहती ही है, उनकी बातचीत और व्यवहार में भी उसकी स्पष्ट झलक मिली। यही नहीं, इस पुस्तक के सिलसिले में उनके निवास स्थान पर भेंट के समय मैंने यह छाप उनकी जीवन-शैली पर भी देखी।

राणा प्रताप बाग स्थित एक खुला-सा घर। अपने अध्ययन कक्ष में डा. विजयेन्द्र स्नातक पुस्तकों से भरी सुसज्जित आलमारियों के साथ ही नहीं, नीचे फर्श पर भी लगे पुस्तकों-पत्रिकाओं-फाइलों के ढेर के बीच बैठे मिले। साथ आए श्री रमेश उपाध्याय बताते हैं, 'यह एक आधुनिक ऋषि का आश्रम है।' उस सात्विक वातावरण की गंध इस बात की पुष्टि करती है और बिना किसी औपचारिकता के हमारी बातचीत शुरू होती है। पहले सामयिक माहौल पर कुछ इधर-उधर की। फिर कुछ मेरी नव प्रकाशित पुस्तकों पर, जिनकी जानकारी व समीक्षा उनके मुख से सुनकर मुझे एक आत्मिक आनंद की अनुभूति होती है। इसके बाद शिक्षा और साहित्य जगत के अपने प्रश्न और जिज्ञासाएं मैं उनके सम्मुख रखती हूं।

'शिक्षा पद्धति में बदलाव की चर्चा वर्षों से सुनी जा रही है। लेकिन अभी तक सिवाय पाठ्यक्रम व वर्ष घटाने बढ़ाने के, सार्थक बदलाव की दिशा में कुछ नहीं हो पाया। पर इधर कुछ दिनों से केन्द्र व राज्य दोनों स्तरों पर जो योजनाएं बन रही हैं उनके जो समाचार पत्रों में आ रहे हैं, उन पर आपकी प्रतिक्रिया ? क्या इन योजनाओं से बुनियादी सोच में बदलाव के कुछ संकेत मिलते हैं ? कोई दिशा या संभावना इनमें आपको दिखाई देती है ?'

'मुझे इन योजनाओं की अभी पूरी जानकारी नहीं है। कुछ समाचार जरूर देखने में आए हैं। पर अध्ययन करना होगा। यह भी देखना होगा कि इन योजनाओं के पीछे किन लोगों की सोच-प्रक्रिया है? केवल नामी साहित्यकारों के कुछ नाम कमेटियों में जोड़ देने से बात नहीं बनेगी। यदि उनके अपने जीवन का चिंतन और नैतिक स्तर सार्थक बदलाव के अनुकूल नहीं होगा तो वे कुछ नई चीज भले ही दे दें, सही दिशा नहीं दे पाएंगे। मात्र योजनाओं से कुछ नहीं होगा। अभी तक का अनुभव तो यही कहता है कि कुछ नाम हर बार सभी जगह रख दिये जाते हैं। विचारधारा या प्रक्रिया कोई भी हो, वामपंथी या दक्षिणपंथी या धर्म और कथित प्रगतिशीलता का समन्वय, वे सभी में खप जाते हैं और प्रायः निजी लाभ ही उठाते हैं। तो होता यह है कि समाज द्वारा पुराना छोड़ दिया जाता है, नया ग्रहण नहीं किया जाता।······इन योजनाओं के परिणाम तो भविष्य बताएगा, पर मेरा अपना मत यह है कि गुणात्मक परिवर्तन के लिए सोच की प्रक्रिया बदलनी होगी।

"आजादी के बाद इतने वर्षों तक ऐसा क्यों नहीं हो पाया, इसके कई कारण हैं। अधिकतर शिक्षामंत्री ऐसे रहे, जिनका शिक्षा से कुछ लेना देना नहीं था, सिवाय दो शिक्षा मंत्रियों—डा. वी. के. आर वी. राव, और के. एल. श्रीमाली के। इनके कार्यकाल मे भी कोई मौलिक विराट परिवर्तन नहीं दिखाई दिया, पर कुछ काम जरूर हुए। शिक्षा मे बदलाव के लिए आयोग बैठाये गए। भाषाओं की समृद्धि के लिए बजट बढ़ाया गया। फिर भी हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में सबसे महत्वपूर्ण विषय—शिक्षा—का बजट सबसे कम रहा। शिक्षा मे राजनीतिक नेताओं के हस्तक्षेप, दीक्षांत भाषणों मे राजनीतिक नेताओं को तरजीह, बढ़ते सामाजिक-राजनीतिक भ्रष्टाचार का इस क्षेत्र पर भी प्रभाव आदि कारणों से शिक्षा-क्षेत्र के प्रशासनिक अधिकारी भी आतंकित रहते हैं, कुछ कर नहीं पाते।

'मुख्य बात है, किसी सुविचारित राष्ट्रीय शिक्षा-नीति का अभाव और नीति-निर्देश के अभाव मे चिंतन की शक्तियों का बिखराव। जब तक नीति-निर्देशकों के अपने दिमाग मे तस्वीर साफ नहीं होगी, बार-बार के पाठ्यक्रम-परिवर्तन से सिवाय छात्रों के नुकसान के कुछ नहीं होगा। शिक्षा-जगत के वातावरण की शुद्धि के लिए भी राष्ट्रीय-चरित्र पर केन्द्रित नीति

की बात स्पष्ट की जानी चाहिए। राज्य-सूची या समवर्ती सूची ? कितनी भाषा-फार्मूला ? क्या परीक्षा-प्रणाली ? राजनीतिक हस्तक्षेप नहीं या कितना ? आदि बहस के मुद्दे उसी पृष्ठ भूमि पर उठाए जा सकें तो कुछ ठोस परिणाम सामने आए !"

साहित्यिक आन्दोलनों का प्रश्न उठाने पर भी उनका उत्तर था, बुद्धिजीवी बहसों का कोई अंत नहीं। यहां भी आंदोलन के बाद आन्दोलन होते हैं। एक लहर के बाद दूसरी लहर उठती है। लेकिन अक्सर भाषा वही, मुहावरे वही, तेवर वही दिखाई देते हैं। पीढ़ी कोई भी हो, आन्दोलन किसी भी दशक का हो, मुहिम स्थापित होने के लिए ही चलायी जाती है। सही सृजन किसी आन्दोलन या लहर से नही जुड़ता। बाह्य-आतरिक दबावों से समय-सापेक्ष चलता है, जिसमे मूल्य स्वयं ही बनते और बदलते रहते है। यही कारण है कि हर पीढ़ी मे कुछ धाराएं समानान्तर बहती रहती हैं। उसी में से कुछ शाश्वत कण झरते रहते हैं, जो समय की शिला पर अपनी छाप छोड़ जाते हैं।

"आम आदमी से या अपनी धरती से जुड़ने की बात आज फिर की जाने लगी है, मै इससे सहमत हूँ। ओढी हुई या आयातित चिंतनधारा के बाद इस नई लहर का स्वागत है। पर प्रश्न है कि आम आदमी कौन ? कोई स्पष्ट परिभाषा सामने है ? मुझे तो लगता है, यह भी एक सामयिक लहर है। बहस करने वालों की अपनी धरती से जुड़ने की बात में दम नहीं। मार्क्सवाद से जुड़कर अपनी धरती से नहीं जुड़ा जाता ! धरती से जुड़ने की बात आज केवल परम्परा से जुड़कर भी नहीं कही जा सकती। नए ज्ञान-विज्ञान से जुडने के बाद भी जापान जैसे जापान से जुड़ा है, उसी तरह भारत भारत से जुड़े—सोच की दिशा यह होनी चाहिए। और केवल बहस नहीं, इस पर काम भी होना चाहिए।"..........शिक्षा-क्षेत्र हो या साहित्य-सृजन, शोध का, नए प्रयोगों का, नए परिवर्तनों का, सदैव स्वागत है। परिवर्तन से ही परम्परा आगे बढ़ती है। पर सार्थक बदलाव की संभावनाएं इसी बात पर निर्भर करेंगी कि सोच की प्रक्रिया क्या है ? और उसकी दिशा क्या है ?"

डा. विजयेन्द्र स्नातक का जन्म मथुरा जिले में सन् 1914 में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन मे हुई। वही से संस्कृत,

हिन्दी, अंग्रेजी और दर्शन विषय लेकर 'सिद्धांत शिरोमणि' उपाधि प्राप्त की। बाद में आगरा विश्वविद्यालय से बी. ए., एम.ए., पंजाब विश्वविद्यालय से शास्त्री और बनारस विश्वविद्यालय से साहित्य शास्त्री आदि परीक्षाएं प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। दिल्ली विश्वविद्यालय से 'राधा वल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धांत और साहित्य' विषय पर शोध करके डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। उनका यह ग्रन्थ शोध का मानक ग्रन्थ माना जाता है।

विद्यार्थी जीवन से ही उनकी कविताएं, लेख आदि पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित होते रहे। 1930 मे उन्होने दिल्ली से नवप्रकाशित दैनिक पत्र 'नवयुग' के सम्पादकीय विभाग मे काम किया। इसके बाद मेरठ, बड़ौत, अम्बाला के कालेजों में हिन्दी प्राध्यापक के रूप मे आठ वर्ष तक अध्यापन करने के बाद 1947 में दिल्ली के रामजस कालेज मे हिन्दी प्राध्यापक नियुक्त हुए। विश्वविद्यालय मे हिन्दी विभाग की स्थापना के बाद वहां पहले प्राध्यापक, फिर रीडर, फिर प्रोफेसर हुए। सेवा-निवृत्ति के समय वही विभागाध्यक्ष थे। दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के संस्थापक व प्रथम प्राध्यापक के नाते हिन्दी एम. ए. कक्षाएं आपने ही प्रारम्भ की थी।

अपनी मौलिक चिंतनपूर्ण कृतियों के कारण साहित्य जगत में डा० स्नातक की विशेष ख्याति है। साहित्य समीक्षा के अतिरिक्त उन्होंने भाषा, संस्कृत, धर्म, दर्शन आदि विषयो पर स्पष्ट व प्रांजल भाषा में गहन चिंतनपूर्ण लेख लिखे हैं। तर्क-प्रमाण मोहक शैली मे विषय प्रतिपादन और दुरूहता से रहित तत्सम प्रधान भाषा उनकी विशेषता है।

अभी तक स्नातक जी के 18 मौलिक और संपादित ग्रंथ प्रकाश मे आ चुके है। मौलिक ग्रंथो पर कुछ उच्चकोटि के पुरस्कार प्राप्त हो चुके है। जिनमे 'हरजीमल डालमिया पुरस्कार' 'हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश के तीन पुरस्कार, साहित्य कला परिषद, दिल्ली का पुरस्कार तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा 'साहित्य वाचस्पति' 'साहित्य वारिधि' 'विद्या वारिधि' 'विद्या वाचस्पति' की मानद उपाधिया मुख्य है। 'चिंतन के क्षण', 'विचार के क्षण', अनुभूति के क्षण', 'अनुसंधान की प्रक्रिया', उनकी कुछ चर्चित कृतियां हैं।

कई साहित्यिक सांस्कृतिक संस्थाओं से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे। डा. स्नातक को 1976-77 मे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने सर्वप्रथम

राष्ट्रीय व्याख्याता के रूप मे चुना था। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी तथा हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की स्थायी समिति के तीस वर्षों से सदस्य हैं। भारत सरकार की अनेक समितियों के मनोनीत सदस्य रहे। अवकाश प्राप्ति के बाद अब 'साहित्य अकादमी' दिल्ली प्रशासन के भी सदस्य हैं।

इतनी विद्वत्ता, प्रतिष्ठा और उपलब्धियों के बाद भी अभिमान इस शख्सियत को छू नहीं गया है। चिंतन की गंभीरता के साथ स्वभाव की सरलता और भारतीयता के शाश्वत मानवीय मूल्यों मे आस्था उनके ऋषि व्यक्तित्व का संस्कार भी है, साधना से प्राप्त परिष्कार भी। देश की नैतिक गिरावट से वह दुःखी हैं, पर निराश नही। 'वर्तमान स्थिति का इलाज वर्तमान असंतोष स्वयं ही करेगा, यह गुण हमारी सस्कारिता में विद्यमान है और यह शक्ति इस धरती की मिट्टी मे दबी है', यह सोचकर भविष्य के प्रति अस्थावान है।



सरल हृदय अहिन्दी भाषी हिन्दी सेवी

डा. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर

अहिन्दी भाषी हिन्दी विद्वान डा. विश्वनाथ अय्यर के नाम की चर्चा सुनी थी। दिल्ली के हिन्दी प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित उनकी कुछ पुस्तकें भी देखने को मिली थीं। तभी 1976 में अचानक एक दिन त्रिवेन्द्रम से उनका एक पत्र पाकर मुझे सुखद अनुभूति हुई। अपनी एक हिन्दी पुस्तक (जीवनी सकलन) सम्पादित करते हुए मेरा नाम भी नहीं भूले थे। उनका यह पत्र मेरी एक रचना को अपनी पुस्तक में लेने के लिए अनुमति प्राप्त करने के लिए था। साथ ही सौ रुपये का एक चैक भी।

अनुमति न देने का तो सवाल ही न था, साथ में चैक पाकर मैं सुदूर दक्षिण के इस अपरिचित विद्वान की नैतिक दायित्व निष्ठा के प्रति नत-मस्तक हो उठी। इसके पूर्व कई भाषाओं में कई लोगों ने मेरी रचनाओं का उपयोग कर लिया था। पैसों की बात तो दूर, अनुवाद के लिए अनुमति तक नहीं मांगी गई थी। अक्सर मुझे बाहर से सूचना मिलती थी (दो बार नवनीत के भूतपूर्व संपादक भाई नारायण दत्त जी से भी, जो इस हिंदी डाइजेस्ट के लिए कई भाषाओं की रचनाएं खंगालते थे) इसलिए डा. अय्यर की अनुमति पत्र भेजने के साथ मैं उनका परिचय जानने का लोभ भी संवरण नहीं कर पायी। प्रत्युत्तर में परिचय ही नहीं प्राप्त हुआ, साथ में उपहार-स्वरूप उनकी एक पुस्तक 'जड़ें' भी डाक से मिली। मैं और अधिक अभिभूत हो उठी।

एक लंबा अन्तराल, और फिर 19-20 सितम्बर, 1981। 'मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' ने भोपाल में 11 अहिन्दी भाषी हिन्दी लेखकों का सम्मान किया था। इनमें दिल्ली से चुने गए तीन नाम भी थे। श्रीमती कमला रत्नम (संस्कृत), श्री पेराला रत्नम (तेलुगू) और आशा रानी व्होरा (पंजाबी)। डा. विश्वनाथ अय्यर (मलयालम) यह सम्मान लेने

त्रिवेन्द्रम से आए थे। वहीं भोपाल में उनसे प्रथम बार मिलना हुआ। उद्‌भट विद्वान और सरल मानव। वक्ता के रूप में धाराप्रवाह हिन्दी बोलने वाले तथा किसी भी प्रश्न का उत्तर सहज ढंग से हल्के हास्य-विनोद के साथ देने वाले दक्षिण भारतीय होते हुए भी हम सभी उत्तर भारतीयों के साथ बातचीत, खान-पान में आत्मीय मित्र की तरह घुलमिल जाने वाले। समारोह के अंतिम दिन, प्रस्थान से पूर्व, मुझे अपने साथ बाजार ले गये, 'चलिये, अपनी भाभी और भतीजे के लिए मुझे भोपाल से साड़ियाँ खरीदवा दीजिए। मुझे तो ऐसी कुछ समझ नहीं।'. फिर त्रिवेन्द्रम लौटकर उन्होंने जो पत्र लिखा, उसमें भोपाल के सम्पर्क साथ के स्मरण के साथ अपनी पत्नी की ओर से धन्यवाद भेजना भी नहीं भूले। साड़िया उन्हे बहुत पसंद आयी थी। तो श्री अय्यर ने विनोद में लिखा, 'मेरी पत्नी आपसे परिचित नहीं, पर स्त्रियाँ साड़ी माध्यम से जल्दी पहचान बना लेती है। अच्छी साड़ी भिजवाने के लिये आपको जरूर याद रखती हैं।'

डा. विश्वनाथ अय्यर के बारे में पढ़ा-सुना था कि वे बाहर से जितने नीरस, दार्शनिक से व्यक्ति लगते है, भीतर से उतने ही सरल, सरस एवं सहृदय व्यक्ति हैं। मैंने उन्हें पत्र व्यवहार से व भेंट के दौरान बिल्कुल वैसा ही पाया—प्रखर बौद्धिकता और सरल विनोदी स्वभाव।

इधर इस पुस्तक के लिये उन पर सामग्री जुटाते हुए मेरे सामने हिन्दी विभाग कोचीन विश्वविद्यालय द्वारा उनकी षष्ठिपूर्ति के अवसर पर 1980-81 में प्रकाशित, अनुशीलन पत्रिका का डा. विश्वनाथ अय्यर षष्ठि-पूर्ति स्मारिका अंक और केरल साहित्य मंडल पत्रिका का जुलाई-दिसम्बर 1980 का डा. विश्वनाथ अय्यर अभिनन्दन अंक मेरे सामने है। इनमें केरल के और बाहर के अनेक उच्चकोटि के विद्वानों ने डा. विश्वनाथ अय्यर के कृतित्व और व्यक्तित्व के लगभग सभी पहलुओं पर लिखा है। इनका अध्ययन करते हुए और उनकी कुछ पुस्तकों से गुजरते हुए अब तो डा. अय्यर का जो विराट स्वरूप मेरे सामने है, उसे कुछ सीमित पृष्ठों के आलेख में समेट पाना ही मेरे लिए एक समस्या है, यहां उसका सार संक्षेप और डा. अय्यर से हुई बातचीत के कुछ अंश ही :

26-31 जुलाई, 1980। डा. विश्वनाथ अय्यर षष्ठिपूर्ति समारोह 26 तारीख को अरणाकुलम महाराज कालेज के विशाल सभागार में हुई

एक विराट सार्वजनिक सभा से शुरू हुआ और 31 तारीख को कोचीन विश्वविद्यालय के हिन्दीविभाग के सभागार में विश्वविद्यालय के प्रति-कुलपति डा. के. ए. वासु द्वारा डा अय्यर के तैलचित्र के अनावरण के साथ एक समापन सम्मेलन के साथ समाप्त हुआ। उद्घाटन-अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रो. के. सी. चाक्को ने डा अय्यर के व्यक्तित्व की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए उनकी अध्ययनशीलता और अध्यवसाय की प्रशंसा की तथा उनके वैविध्यपूर्ण कृतित्व की उपलब्धियों का मूल्यांकन किया। समापन समारोह के अध्यक्ष मातृभूमि के भूतपूर्व सम्पादक (स्व.) श्री के. ए. दामोदर मेनन ने डा. अय्यर की हिन्दी अध्ययन, अनुसंधान सेवाओं को चिरस्मरणीय बताया और उन्हें सफल जीवन के लिये बधाई दी। इस तरह षष्ठिपूर्ति समारोह का यह 6 दिन लम्बा चलने वाला भव्य आयोजन डा. विश्वनाथ अय्यर की एक महान उपलब्धि है। यों वह केरल से बाहर के हिन्दी क्षेत्र में भी कई बार सम्मानित हो चुके हैं। मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के सम्मान से पूर्व नागपुर में हुए प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन में भी उन्हें विशेष पुरस्कार दिया गया था। मारीशस के द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन में वह भारत सरकार की तरफ से आमंत्रित थे। अगस्त 1983 में बिहार सरकार ने भी उन्हें सम्मानित किया है।

डा. एन. ई विश्वनाथ अय्यर का जन्म 31 जुलाई, 1920 को पालघाट के नूरणि गाँव में एक अध्यापक के घर में हुआ। दक्षिण की परंपरानुसार, उनके नाम के पूर्व एन अक्षर नूरणि गाव को और ई अक्षर उनके पिता के नाम श्री ईश्वर अय्यर के नाम को दर्शाता है। प्रारंभिक शिक्षा नूरणि हाई स्कूल में ही हुई। उन्ही दिनों सस्कृत और हिन्दी विषय लिये। संस्कृत कालेज बनारस से हिंदी एम. ए. और मद्रास संस्कृत विश्वविद्यालय से संस्कृत एम. ए. किया। फिर सागर में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के निर्देशन में शोध अध्ययन कर पीएच. डी. की उपाधि ली।

हिन्दी लेखन कार्य उन्होंने 1948 में शुरू किया, जब 'होनहार बालक तथा अन्य कहानियां' शीर्षक से उनकी कुछ कहानियों का एक संकलन प्रकाशित हुआ। उन्ही दिनों उन्होंने 'स्वतंत्र हिन्दी बोधिनी', 'हिन्दी रचना मित्र' आदि व्याकरण ग्रंथ भी प्रकाशित किये। इसके बाद तो निरंतर सृजनात्मक, अनुसंधानपरक, अनूदित एवं सम्पादित ग्रन्थों के रूप में उन्होंने हिन्दी को

बहुत कुछ दिया । उनके 20 के लगभग मौलिक ग्रन्थ तथा 15 के लगभग संपादित ग्रन्थ हैं। मलयालम में उन्होंने दो ग्रन्थों का संपादन किया और मलयालम से हिन्दी में दो ग्रन्थों का अनुवाद किया । लगभग चालीस शोध लेख और पच्चीस से अधिक रम्य रचनाएं पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। अनेक स्फुट अनुवाद भी। साठोत्तर काल में उनकी रचनाएं विशेष रूप से प्रकाश में आयीं और इधर 70-80 के दशकों में सर्वाधिक प्रकाशित हुई । अध्ययन की सुविधा के लिए उनकी रचनाओं को (1) गवेषणा एवं समीक्षा (2) अनुवाद एवं अनुवाद विषयक चिन्तन, (3) सम्पादित ग्रंथ, (4) कहानियां, (5) ललित निबंध—इन वर्गों में बांट सकते हैं ।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है, 'श्री विश्वनाथ अय्यर', सागर विश्वविद्यालय के दक्षिणालय शोधकर्ताओं में सर्वप्रथम थे ।' उनके कुछ प्रमुख समीक्षा शोधग्रन्थ हैं : 'आधुनिक हिन्दी काव्य तथा मलयालम काव्य', 'राष्ट्र-भारती को केरल का योगदान', 'केरल के प्रथम हिन्दी गीतकार', 'प्राचीन कवि केशवदास, महाकवि रवीन्द्रनाथ' आदि । ये अधिकतर हिन्दी प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित हैं ।

उनकी संपादित व अनूदित रचनाओं में महाकवि कुमारनाशान, एवं वल्लतोल पर संपादित ग्रन्थ, 'दक्षिण के राम काव्य', 'दक्षिण भारत के हिन्दी विश्वविद्यालयों में 'हिन्दी अध्ययन', 'कथातरंगिणी', 'काव्य सौरभ', 'केरल की वीरगाथाएं', और 'केरल की जनकथाएं', (लोक साहित्य), 'गद्य विकास', 'गद्यांजलि', 'मलयालम काव्यधारा'-प्राचीन खण्ड एवं आधुनिक खण्ड 'मानवता के सेवक', (जीवनी संग्रह) और मलयालम के दो प्रसिद्ध उपन्यासों 'परिभाषयुटे प्रश्नंगल' और 'गुंटर्ट ओरु पठन' के 'आधी घड़ी' और 'जड़ें' नाम से हिन्दी में अनुवाद उल्लेखनीय हैं । जड़ें उपन्यास की संस्कारों की जड़ें पढ़ने पर डा० अय्यर व मलयाली साहित्य-दोनों के प्रति अनुशंसा का भाव जगता है। 'शतदल', 'माध्यम', 'केरल भारती', आदि में प्रकाशित उनके काव्या-नुवाद भी मुझे सुपठनीय लगे । अनुवाद में हिन्दी मुहावरों और शैलियों को लाने का उनका प्रयास अनुकरणीय है। उनकी संपादन क्षमता उनके द्वारा संपादित 'केरल साहित्य मंडल पत्रिका', और 'अनुशीलन', पत्रिका के संपादन में भी देखी जा सकती हैं। 'अनुशीलन', तो उनकी एक बड़ी उप-लब्धि है, जिसके विभिन्न विशेषांक उपयोगी संदर्भ ग्रंथ जैसे हैं ।

कहानियां भी विश्वनाथ अय्यर ने लिखी हैं, काव्य कथाएं और जीवनी साहित्य भी। पर उनकी प्रिय विधा रही है, 'ललित निबन्ध।' 'शहर सो रहा है', 'उठता चांद और डूबता सूरज', उनके रोचक ललित निबन्ध-सग्रह है। गंभीर विषय को हल्के हास्य पुट के साथ प्रस्तुत करना इन निबन्धों की विशेषता है। इसी तरह साहित्यिक गोष्ठियों में गंभीर प्रश्नों व आक्षेपों का हास्य-व्यग्य पूर्ण ढंग से उत्तर देने और कभी संतुलन न खो बैठने की उनकी अपूर्व क्षमता उनकी विशेषता है। वह प्राचीन, मध्य-युगीन एवं आधुनिक साहित्य के एक समान पारखी अध्यापक एवं सहृदय पाठक रहे हैं। विभिन्न संगोष्ठियों, और कार्यक्रमों का आयोजन करते रहे है। विपक्षी मत को भी पूरा आदर देते है और नई पुरानी सभी पीढ़ियों के साथ अपनी पटरी बैठा लेते हैं।

डा. विश्वनाथ अय्यर केरल के ही नहीं, सारे अहिन्दी क्षेत्रों के उन इने-गिने हिन्दी विभागाध्यक्षों में से एक रहे हैं, जो अध्ययन-अध्यापन, लेखन प्रकाशन, पर्यटन और दूरस्थ सभाओं में जाकर भाषण जैसे सभी दायित्व समान दिलचस्पी के साथ निभाते रहे है। इसी कारण देशव्यापी ख्याति और लोक-प्रियता अर्जित कर सके। सादे जीवन और उच्च विचारो के मूर्तिमान रूप डा. अय्यर मे विद्या और विनय का अद्भुत समन्वय है। ख्याति व लोकप्रि-यता का प्रमाण है कि दक्षिण भारत के हिन्दी पाठ्य ग्रन्थों मे ऐसा कोई सग्रह नही है, जिसमें उनकी रचना को स्थान न दिया गया हो। वह स्वयं भी छोटी से छोटी कक्षा के पाठ्यक्रम से लेकर उच्च कक्षाओ के लिए उच्च-कोटि के साहित्य तक लेखन की क्षमता रखते है। पर उनका साहित्यिक मूल्यांकन उनके निबन्धों के द्वारा ही किया जा सकता है, जिनमे गजब की शैली और समन्वयवादी दृष्टिकोण है।

अपने स्वभाव से डा. अय्यर अन्तर्मुखी नही, बहिर्मुखी प्रवृत्ति वाले सरल विनोदी, सहीष्णु, उदार और समन्वयवादी हैं। गोष्ठियों में विषय की नीरसता जब श्रोताओ को उबाने लगती है तो डा. अय्यर तुरंत उठकर किसी लोकोक्ति या हास्योक्ति द्वारा वातावरण को हल्का फुल्का कर देते है। वैसे वह वाचाल नहीं हैं। गोष्ठियों मे स्वयं कम बोलते हैं, दूसरों को बोलने का अवसर अधिक देते हैं। उनकी लोकप्रियता इस कारण भी है। और इसलिए भी कि वह किसी भी राग द्वेष, दुराग्रह की भावना से रहित हैं और

साहित्यिक झगड़ों, मतवादों तथा राजनैतिक पचड़ों से अलग रहते हैं।

उनके घरेलू जीवन के बारे में उनसे पूछने पर भी उनका संक्षिप्त-सा विनोदी उत्तर था, गृहस्थी के कामों को एक दार्शनिक की भांति तटस्थ दृष्टि से देखना मुझे अच्छा लगता है। घर का सारा प्रबन्ध धर्मपत्नी करती हैं। मैं घर के किसी पचड़े में नहीं पड़ता। अपने अलग कमरे में बैठकर काम में लगा रहता हूं। हां, उस कमरे में बच्चे आकर शोरगुल मचाते रहें तो भी उनसे मेरे काम में कोई बाधा नहीं पड़ी। न मैंने उन्हें डांटा, न बाहर जाने के लिए कहा। बच्चों की किलोल मुझे काम के बीच भी अच्छी लगती थी। अब तो दोनों लड़कियां बड़ी हो गई हैं।

'हिन्दी प्रचार और हिन्दी लेखन की प्रेरणा उन्हें कहां से मिली?'

इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने बताया, गांधी जी का आह्वान पाकर दक्षिण में बहुत से युवक हिन्दी सीख रहे थे और राष्ट्रभाषा का प्रचार प्रसार करके स्वयं को कृतकृत्य मान रहे थे। उन दिनों हिन्दी सीखना और उसका प्रचार करना खतरा मोल लेना था। फिर भी बहुत से लोग यह खतरा उठाने के लिये सामने आये। इस ध्येय को अपनाने वालों में से मैं भी एक था। आज केरल से बाहर जाकर एक केरलीय का हिन्दी में भाषण देना एक महत्व की बात मानी जा रही है। तब ऐसा नहीं था। हम लोगों ने सारा जीवन राष्ट्रवाणी हिन्दी के प्रचार प्रसार और हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि में लगाया। 'केरल हिन्दी साहित्य मण्डल' की स्थापना की। इसकी पत्रिका और कालेज की विभागीय पत्रिका के माध्यम से, अनुवाद से, गोष्ठियों सम्मेलनों में हिन्दी को दक्षिण में लोकप्रिय बनाया। आज राजनीति इसे फिर से बहिष्कृत करने लगी है तो यह देख सुन कर हमारे हृदयों को आघात पहुंचना स्वाभाविक ही है। राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्रनिर्माण की हमने कल्पना भी नहीं की थी।'

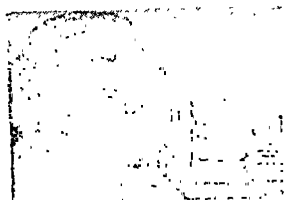
'केरल में हिन्दी के इतिहास पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे?'

डा. अय्यर ने कहा, 'केरल राज्य हिन्दी प्रदेश से बहुत दूर है। तो भी न जाने कब से यहां की जनता हिन्दीभाषी पर्यटकों के सम्पर्क में आकर हिन्दी समझ लेती थी और कुछ शब्द बोल भी लेती थी। दक्षिण के पुण्य तीर्थ रामेश्वरम् की यात्रा करते हुए हिन्दीभाषी यात्री यहां से गुजरते थे। इसके बाद उत्तर में मुगलों व दक्षिण में सुल्तानों नवाबों का शासन

कायम हुआ तो इन शासकों से पत्र-व्यवहार करने, उधर से आने वाले व्यापारियों, जिनमे बहुत से गुप्तचर भी होते थे, से निपटने के लिए सरकारी और गैर सरकारी कर्मचारियों को हिन्दी सीखनी पड़ती थी । सदियों पहले भक्ति आन्दोलन के युग से जनता ने जिस भाषा को माध्यम बनाया, उसी को अपनाया था । फिर अंग्रेजों के विरुद्ध आजादी की लड़ाई छिड़ जाने पर विभिन्न भाषा भाषी लोगों के आपसी विचार विनिमय के लिये एक आम भाषा चाहिये ही थी ।

इस तरह राष्ट्र के विभिन्न राज्यों से हिन्दी-आन्दोलन उनकी अपनी आवश्यकताओं के कारण शुरू हुआ था । चूंकि हिंदी आन्दोलन का संबंध राष्ट्रपिता से था इसलिए आन्दोलन मे शामिल लोग राष्ट्रीय कार्यकर्ता समझे जाते थे और उन्हे शासकों की वक्रदृष्टि का शिकार होना पड़ता था । मगर उस समय हवा ऐसी थी कि जो लोग राजनीति में प्रत्यक्ष भाग नही ले रहे थे, वे भी उत्साह के साथ हिन्दी सीखने लगे थे । इसीलिये केरल की 'त्रावणकोर" और "कोचीन" दो रियासतो के हाई स्कूलो, कालेजो में भी हिन्दी ऐच्छिक विषय बनाई गई । गोरो की सरकार की सेना की भाषा के रूप मे हिन्दी स्वीकृत हो हीं गई थी । इसका भी असर पड़ा । खेद है, स्वतंत्रता के बाद विभिन्न भाषा-भाषी अपना पूर्व ध्येय विस्मृत कर छोटी-मोटी बातो को लेकर झगड़ने लगे और राजनैतिक स्वार्थ उन्हें परस्पर बांटने लगा । अब भी फूटपरस्तो से निपटने के लिये और राष्ट्रीय एकता व अखण्डता का बोध उजागर रखने के लिये एकमात्र रास्ता सांस्कृतिक आदान-प्रदान ही है । 'सम्पर्क भाषा' के नाते यह जिम्मेदारी हिन्दी को निभानी थी, निभानी चाहिए । शुरू मे कुछ कदम उठाए भी गये, लेकिन आगे चलकर पूर्व उत्साह क्षीण होने लगा । पर मेरी मान्यता है कि हिन्दी को सम्पर्क भाषा कहलाने लायक बनाने के लिये लोगों मे यह विचार पैदा करना होगा कि हिन्दी के अध्ययन से विश्व साहित्य और भारतीय साहित्य से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है । यह काम अकेले हिन्दी लेखक नहीं कर सकते ।'

डा. विश्वनाथ अय्यर अपने इस कथन को व्यवहार में सार्थक कर रहे हैं । शायद इसीलिए केन्द्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा इधर उनके लिए विभिन्न स्थानो पर भाषण मालाएं आयोजित की जा रही हैं और हिन्दी प्रकाशक उनकी पुस्तकें सम्मान से प्रकाशित कर रहे हैं । △



एक नृवैज्ञानिक कवि

डा. श्यामसिंह शशि

सन् 1976। 'शिला नगर में' कविता संग्रह को उत्तर प्रदेश सरकार ने पुरस्कृत किया था और भारतीय साहित्य परिषद ने डा. श्याम सिंह शशि के सम्मान में इस पुस्तक पर एक गोष्ठी आयोजित की थी। इसी गोष्ठी में पहली बार मेरा उनसे निकट परिचय हुआ। इसके बाद तो जब कभी भेंट हुई, वह आगे बढ़कर मुझसे मिलना नही भूले थे। कुछ ऐसा ही विनम्र और मिलनसार स्वभाव है उनका।

इसी तरह गत वर्ष राष्ट्रपति भवन के एक समारोह मे अचानक मिल गए। मैंने उनसे शिकायत की, देखिए, शशि जी, आपके यहां मेरी एक पुस्तक अनुबंधित है। पांडुलिपि आपके स्टाफ द्वारा एक बार पूरी पढ़ी जा चुकी है और अब एक नये संपादक उसमे कुछ बाधाएं खड़ी कर रहे है। मैं पांडुलिपि वापस उठाने के लिए तैयार हूँ, उनके अनुसार परिवर्तन करने के लिए नही। डा. शशि ने मुझे समझाया, जल्दबाजी मे ऐसा कोई कदम न उठाइए। आप किसी दिन कार्यालय आ जाइए, मैं डायरेक्टर साहब से आपकी भेंट करा दूंगा। तभी बैठ कर बातचीत द्वारा समस्या का समाधान निकाल लिया जाएगा। मुझे बात जच गई। फोन पर समय लेकर पहुँची। डा. शशि तब तक भारत सरकार के प्रकाशन विभाग के निदेशक पद पर नही आए थे। निर्णय तत्कालीन निदेशक बड़ा ठाकुर साहब को ही लेना था।

पर डा. शशि मुझे उनसे मिला कर ही नहीं चले गए, साथ बैठे । मैंने अपना पक्ष उनके सामने रखा । बात शशि जी और बड़ा ठाकुर साहब, दोनों की समझ में आ गई और बाधा दूर हो गई । डा. शशि के स्वभाव और समझ की छाप मुझ पर और गहरी हो गई ।

21 मई 1984 । समाचार पत्र में पढ़ती हूँ, प्रकाशन विभाग का निदेशक बनने पर 'भारतीय विद्या भवन' में डा. श्यामसिंह शशि का अभिनंदन किया गया । इस सरकारी प्रकाशन विभाग के निदेशक पद पर पहली बार किसी स्थापित हिंदी कवि लेखक की नियुक्ति के समाचार से बेहद खुशी होती है । फोन उठाकर पहले बधाई देती हूँ, फिर अपनी मूर्खतावश या इन से मिले अपनत्व के अधिकार के जोम में अगली सांस में ही शिकायत भी कर बैठती हूँ, बंधु आप तो एक से दूसरी व दूसरी से तीसरी सीट पर ऊपर छलांग गए और मेरी किताब आपके यहां अभी तक उसी सीट (स्तर) पर रुकी है, उसका उद्धार कब होगा ? डा. शशि ने बुरा नहीं माना । अपनत्व के अधिकार से की गई शिकायत को सिर माथे लिया । अपनी आदत अनुसार, पहले एक जोर का ठहाका लगाया, फिर जिम्मेदार अधिकारी के संयत स्वर में इतना ही बोले, रुकने का कोई कारण रहा होगा । पर इत्मीनान रखिए, अब नहीं रुकेगी । मैं आश्वस्त हो गई ।

कभी डा. शशि की एक छोटी-सी पुस्तक पढ़ी थी, 'मेहनत ही जिन्दगी है ।' उसकी भूमिका में किया गया उनका दावा मुझे याद था, कोई *सन्तप्त हृदय, जीवन से निराश, गरीबी और बेकारी से हताश, आत्महत्या* पर आमादा व्यक्ति एक बार इस पुस्तक को आद्योपांत पढ़ लेगा तो मुझे विश्वास है, वह अपना इरादा जरूर बदल लेगा । जीवन की बाजी हार बैठने वालों के लिए एक सच्ची मित्र साबित हो सके, ऐसी पुस्तक लिखने वाले व्यक्ति का अपना जीवन कैसा रहा होगा ? सुना था, वह स्वयं भी बहुत मेहनत और संघर्ष करके ही आगे आए हैं । इसलिए उनके बारे में जानने की जिज्ञासा तो मन में कहीं थी ही, फिर जब उनके कार्यालय की पहली योजना आई, 'बुक्स फार मिलियन्स', तो मैं उनकी इस प्रकाशन योजना को जानने समझने के लिए एक दिन उनके कार्यालय जा पहुंची । तभी जम कर बातें हुई,—इस योजना पर । उनकी कार्यप्रणाली पर । उनके सृजन पर । उनके जीवन संघर्ष और जीवन दर्शन पर भी । तभी मुझे उनके उक्त

दावे की सच्चाई का भान हुआ और लगा, सचमुच इस अध्ययनशील, धर्मनिष्ठ साहित्यकार का व्यक्तित्व और कृतित्व बहुतों की प्रेरणा बन सकता है। परिणति है यह आलेख।

हरिद्वार के समीप का एक गांव। छँ मील दूरी पर हाई स्कूल। छँ मील जाना और आना। बारह मील का रोज पैदल सफर। इतने समय की बरबादी और इतनी थकान के बाद पढ़ाई ही कितनी आसान रह जाती है? उस पर सामान्य अध्ययन में साम्यवाद से लेकर आध्यात्म तक सभी कुछ पढ़ने—समझने की धुन। कक्षा में प्रथम आने की धुन। कुछ बनने, कुछ करके दिखाने की धुन। ऊंचे लक्ष्य, ऊंची महत्वाकांक्षाएं। लेकिन कैसे? स्वेट मार्टेन पढ़ कर प्रेरणा मिली कि मेहनत से, लगन से आगे बढ़ो, साधनहीनता आड़े नहीं आएगी। बस राह मिल गई।

जहां चाह, वहां राह, कहावत ऐसे ही नही बनी। 16 वर्षीय किशोर श्यामसिंह का पहला कविता संग्रह 'लाल सवेरा' तभी छप गया, जब वह हाई स्कूल में था। फिर भी परीक्षा परिणाम में प्रथम स्थान। आगे इंटरमीजिएट, बी. ए., एम. ए., सभी में प्रथम पोजीशन से पुरस्कारों तक।

कविताएं लिखना, सामान्य अध्ययन करना, कक्षा मे प्रथम आना तो ठीक, क्योंकि सामान्य जानकारियों से लैस छात्र ही प्रायः प्रथम आया करते हैं, पर संघर्षशील छात्र जीवन में, जबकि परिवार से कोई सम्पर्क-सहायता भी न थी, आपको अपने कविता संग्रह के लिए प्रकाशक कैसे मिल गया? मेरे भीतर की जिज्ञासु लेखिका बीच मे टोक कर पूछ लेती है और जिज्ञासा को समाधान मिलता है :

जब मैंने 16 वर्ष की उम्र में यह संग्रह तैयार कर लिया तो एक साथी ने कहा, लेकिन इसे छापेगा कौन? इतनी छोटी उम्र के कवि को प्रकाशक कहाँ मिलेगा? मुझे प्रकाशक शब्द तक ज्ञात न था। मैंने मित्र से पूछा, प्रकाशक किसे कहते हैं? तो मित्र हँस पड़ा। उसी ने बताया। फिर एक दिन कहा, चंदौसी में फलां प्रकाशक है, उन से पूछ कर देखो, शायद छाप दे। हरिद्वार के कवि सम्मेलन सुनने मैं जाता ही था। स्वर्गीय दादा मैथिलीशरण गुप्त को वहीं देखा था। मुझे एक युक्ति सूझी। मैंने

बड़ी अच्छी विनम्र भाषा में गुप्त जी को अपनी कविताएं भेजीं व उन पर उनका आशीर्वाद मांगा। उनकी भूमिका आ गई और चंदौसी के प्रकाशक ने मेरा कविता संग्रह छाप दिया। तब गीत-पुस्तकों की मार्किट भी थी। प्रकाशक से मुझे इस गीत संग्रह के छँ सौ रुपए भी मिले। इतने रुपए तब बहुत होते थे। मेरा उत्साह बढ़ा। फिर बी. ए. करने तक एकादशी, भूदान दशक, प्रणय पूर्णिमा तीन लघु कविता-संग्रह और आ गए। चारों अर्चचित। बहुचर्चित हुआ, 1970 में जाकर जब छपा कविता संग्रह 'लहू के फूल।' इसके बाद आस्था के स्वर (1974), युद्ध के स्वर : प्रेम की लय (1975) और शिला नगर में (1976) भी खासे चर्चित रहे। *'एक दधीचि और' तथा 'यायावरी'* कविता संग्रह एक अंतराल से 1983 में आए। इस बीच 1978 में केवल एक बाल गीत संग्रह ही आ पाया, 'नन्हे सैनिक।'

'लेकिन आप तो नृवैज्ञानिक कवि कहे जाते हैं। आपने कविता से इतर समाज-विज्ञान, विशेष रूप से नृविज्ञान पर भी तो काफी लिखा है। युद्ध साहित्य और बाल साहित्य भी आपका कम नहीं। यह विषय वैविध्य कैसे आया ? नृविज्ञान की प्रेरणा आपको कहां से मिली ?'

'आपका कहना ठीक है। इन सभी विषयों पर हिंदी, अंग्रेजी को मिला कर मेरी पचास से अधिक पुस्तकें हैं। 'हमारा समाज', 'हिमालय के खानाबदोश' 'हिमालय के यायावर', 'भारत के यायावर', युद्ध कला', 'युद्ध और विजेता', 'वनवासी बच्चे' कितने सच्चे', 'आदिवासी महिलाएं' आदि। अंग्रेजी में भी हिमाचल-नेचर्स पीसफुल पैरेडाइज, गद्दीज आफ हिमालयाज (एंथ्रोपोलोजी (नृविज्ञान) में पीएच.डी. का शोध ग्रंथ) 'डिफेंडर्स आफ इंडिया', 'नोमेड्स आफ दी हिमालयाज' आदि मानक ग्रंथ हैं। रही रुचि और प्रेरणा की बात, तो हरिद्वार के आगे गांव का रहने वाला हूं। हिमालय ही सामने था। बचपन से जिज्ञासा रही, इन ऊंचे पहाड़ों के उस पार क्या है ? देहरादून के पास कई जनजातियां हैं, जिनमें से 'खस' जनजाति तो अपनी बहुपति विवाह-प्रथा के कारण खासी चर्चित है। इन्हें जानने-समझने की चाह थी। अवसर भी मिल गया। इसी अंचल के 'अशोक आश्रम' में रहा। वहीं पंडित हरदेव शास्त्री, विनोबा भावे से लेकर पंडित नेहरू परिवार तक सभी के संपर्क में आया। वहीं से 1957 में आश्रम की मासिक पत्रिका 'हिमालय' के संपादक के नाते कार्य आरंभ कर मैंने अपना पत्रकारीय जीवन शुरू किया

था। हाँ, सैन्य विज्ञान में मैंने रुचि ली, 'सैनिक समाचार' का संपादक बन कर। दस भाषाओं में इसका संपादन करता था। सैनिकों से भेंट, युद्ध-स्थलों का निरीक्षण व तत्संबंधी लेखन इसी तरह हुआ। बाद में, देश-विदेश की इन अनुसंधान-अध्ययन-यात्राओं का क्रम और आगे बढ़ा। भारतीय रोमा यायावर समाज के नृवंशानिक अध्ययन के लिए मैंने दो बार यूरोप व अमेरिका के 25 देशों की यात्राएं की। रोमा-अध्ययन पर मेरी पुस्तकें अभी प्रतीक्षित है—देखें, कब आ पाती हैं ? प्रशासकीय सेवा मे समय का अभाव तो आड़े आता ही है न।'

'क्या केवल समय ही ? जैसे कि शुरू से ही आप बहुत कुछ करने की ऊँची महत्वाकांक्षाएँ लेकर चले, नौकरी उनमें भी तो अवसर आड़े आती है ? आम अनुभव है कि ऐसे मेधावी और पढ़ाकू व्यक्ति नौकरियों मे टिकते नहीं। टिकते भी हैं तो एडजस्टमेंट मे कठिनाई अनुभव करते है। आप ने कैसे राह निकाली ? फिर आपके साथ तो मेरी तरह राहों का बिखराव भी रहा ?'

'महत्वाकांक्षा की किशोर-उड़ानों की बात मत पूछिए कि उस समय ये कल्पनाएँ कितनी ऊंची थी मेरी। किशोरावस्था तो यों भी सपनों और खामखयालियों से भरी होती है। फिर मैं तो वेद, उपनिषद्, पुराण, दर्शन, महाकाव्य सभी कुछ पढ रहा था। कालिदास से लेकर शेक्सपीअर तक और रवीन्द्रनाथ से लेकर एज़रा पाउंड तक सभी को पढ़ गया था। गांधी, मार्क्स, विवेकानंद, सभी का मिलाजुला प्रभाव। गुरुकुल कांगड़ी के सदाचार का प्रभाव। दिनकर, पंत, निराला, सोहनलाल द्विवेदी, भवानी प्रसाद मिश्र की लेखनियों का प्रभाव। पंडित किशोरीलाल वाजपेयी और कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर का भाषा-प्रभाव और सद्भाव। इन सभी प्रभावों को अपने मे समेटता चला गया। पता नहीं क्या-क्या सपने देखता था—धर्म-शास्त्री बनने का, बड़ा साहित्यकार बनने का, बेजोड महाकाव्य रचने का, बड़े-बड़े काम करने का। शायद इसीलिए न एक लक्ष्य बन पाया, न एक दिशा पकड़ में आई। बचपन से काव्य। उच्च अध्ययन समाज-विज्ञान में। आध्यात्मिक प्रभाव से संस्कृत अध्ययन और 'सिद्धान्त शास्त्री', 'वाचस्पति', 'धर्म विशारद' की परीक्षाएँ। बाइबिल कोर्स। साहित्यिक रुचि के कारण 'साहित्य रत्न', 'प्रभाकर' की परीक्षाएँ और न जाने क्या-क्या।

'पर इस सारे बिखराव के बावजूद, काव्य-रुचि निरन्तर बनी रही और स्वांत सुखाय काव्य-सृजन के साथ नृविज्ञान में शोध-अध्ययन-लेखन की दो धाराएं समानांतर चलने लगी। नौकरियां शुरू मे मजबूरी थी। (मैंने तो अपनी उच्च शिक्षा भी नौकरिया करके ही पूरी की थी) इसलिए शुरू में कई नौकरियां बदली थी। बाद मे मानसिक प्रौढ़ता आने के अलावा, यह जैसे आदत भी बन जाती है। केवल साहित्य-सृजन को लेकर सुविधा से जीने की स्थितिया अब तक भी कहा बन पाई है हमारे यहा ? यद्यपि यह महत्वाकांक्षा अभी भी जोर मारती रहती है भीतर से, पर वेदांत के अध्ययन और सामान्य जीवनानुभव से अब यजुर्वेद के मंत्र—ईशावास्य इदं सर्वं यत्किंच जगत्या जगत' अनुसार निर्विकार भाव से दुहरी जीवन-यात्रा साध ली गई है। रही समय की बात, तो दफ्तर के बाद मेरी कोई क्लब-लाइफ नही। शराब, सिगरेट, मित्रमडली मे गप्पबाजी, सैर-सपाटे आदि का कोई व्यसन नहीं। न प्रेमिकाएं पालने का, केवल कालेज-जीवन की उस आयु के अपवाद को छोड़ कर, जब प्रणय पूर्णिमा काव्य-संग्रह लिखा गया, वर्ना अध्ययन लेखन सब धरा रह जाता। मै तो नियमित पढ़ने का आदी हूं। घोर व्यस्तता के बीच भी कुछ न कुछ पढता रहता हूं और जरा फुर्सत मिलते ही लिखता भी हूं।

'बुक्स फॉर मिलियन्स की आपकी योजना क्या है ?'

'प्रौढ़ो और किशोरों के सामान्य शिक्षण के लिए ज्ञान-विज्ञान की ऐसी छोटी पुस्तकें प्रकाशित करना, जो सस्ते मूल्य में जन-जन तक पहुँचे और वर्तमान माहौल में उन्हे अच्छा जीवन जीने की प्रेरणा दे सके। फिलहाल ऐसी 20 पुस्तकों का सेट निकाला जा रहा है।'

'आज के माहौल पर आप अपने अनुभव से कुछ कहना चाहेंगे ?'

'इतना ही काफी है—हर तरफ से, हर किसम के साप ने इतना डसा है, नाग काले का जहर भी अब असर करता नही है'—शायद शिला नगर मे की एक पंक्ति। पर नए मानव की तलाश में, आदमी और आदमी और आदमी जैसी उनकी प्रतिनिधि कविताएं बताती है कि कुठा अनास्था और टूटन की तमाम स्थितियो के बावजूद, उनका कवि आशा और विश्वास और आस्था का दामन छोड़ नही पाया है। इसका श्रेय उनके निरंतर

आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक चिंतन-मनन द्वारा आत्मशक्ति के संचय और सोद्देश्य जीवन की उनकी तैयारी को ही दिया जा सकता है।

जो व्यक्ति बहुत-बहुत संघर्ष करके, मेहनत करके स्वयं भाग्य बनाने और भाग्य बदलने में विश्वास रखता हो, ऐसा करके दिखाता हो, युवाओं को ऐसी प्रेरणा देने के लिए इस तरह की पुस्तक लिखता हो, वह यदि भावुक, स्वप्नदर्शी, आदर्शवादी के बाद ठोस व्यावहारिक जमीन पर उतर, अपने महात्वाकांक्षी सपनों को वहीं साकार करना चाहे तो इसे जीवन का *एक संतुलन, एक समायोजन ही कहा जाएगा। बहुत कुछ करते हुए, बहुत* कुछ खोने के बाद ही शायद यह बहुत कुछ पाया जा सकता है—इस की एक मिसाल है यह व्यक्ति, जिसका नाम है, डा. श्याम सिंह शशि। शशि जिसके अभिनन्दन गीत की एक पंक्ति है—'गांव की धूल में जो खिला फूल-सा अब खिला नगर में है गुलाबी चमन, सखा भाव में सूर-मन की तरह, फूल को भी नमन, शूल को भी नमन।'

खंड–2
विविध क्षेत्र



ध्येय को समर्पित थी। तिलक, लाजपत राय, गांधी, जवाहरलाल भी लेखक पत्रकार नहीं थे क्या? वह एक स्थिति थी। हम लोग पत्र चलाते थे। लिखते थे, पर समय पर स्वयं सेवक बनकर दरियां भी बिछा लेते थे, डुग्गी तक बजा लेते थे। बाद मे जब मैं सविधान-सभा का सदस्य था, दिन मे संविधान निर्माण की मीटिंगों में भाग लेता था, शाम को उन्हीं मीटिंगों की रिपोर्टिंग करता था।

उन सब समर्पित राष्ट्रनेताओं का प्रभाव, और उस समय के माहौल का प्रभाव था मुझ पर। अपने सहपाठी कृपालानी के साथ युवराज के 'बायकाट' पर पकड़ा गया। 1920, 30-32, 42 के सभी आन्दोलनों में भाग लेकर जेल गया। सन् 30 से 45 तक 'आज' का सम्पादक रहा। इसके बाद 1952 तक 'ससार' का सम्पादन किया। दिल्ली में गाधी जी की प्रार्थना सभा, मे पत्रकार के नाते रोज बिडला हाउस जाता था। पर ा दुर्भाग्य कि जिस दिन गाधीजी को गोली लगी, उस दिन मैं दिल्ली में ी था। वाराणसी मे यह समाचार सुना तो धक्क रह गया। फिर बारह ातार 'संसार' मे अग्रलेख लिखता रहा—यानी इस रूप में, गाधी जी शोक मनाता रहा। उनकी भस्मी त्रिवेणी मे प्रवाहित तो वहां शामिल हुआ। तभी एक प्रकाशक ने इन लेखों में छाप दिया। पुस्तिका को नाम दिया गया, 'बापू

रात दस बजे तक चलता रहेगा, तुम अपनी बात करो, ये लोग बैठे रहेंगे।' और बातचीत होने लगती है।

कमलापति जी के बारे में इतना कुछ जानती हूँ कि लम्बी-चौड़ी भूमिका बांधने या उनके बारे में विस्तार से जानने की न आवश्यकता लगती है, न गुंजाइश ही दीखती है। वर्तमान माहौल, कांग्रेस के हर उतार चढ़ाव में उनका अडिग रूप से साथ जुड़े रहना और राष्ट्रीय चरित्र से जुड़े भारतीय मूल्यों के प्रति उनकी उतनी ही अडिग निष्ठा में परस्पर अन्तविरोध हो, न हो, इस संदर्भ में मैं कुछ प्रश्न उठाती हूँ। बातचीत आगे बढ़ती है कि बीच-बीच में प्रतीक्षारत लोगों के प्रतिनिधि के रूप में एक सज्जन बार-बार निवेदन करते हैं, 'कृपया अपनी बात जल्दी समाप्त करिए बहिन जी, कुछ यह भी ख्याल करिए कि बाहर कितने लोग बैठे हैं।' और मैं चाहकर भी; कमलापति जी द्वारा कोई व्यवधान न दिए जाने पर भी, अपनी बात समेटने के लिए जैसे बाध्य हो जाती हूँ।

पंडित कमलापति त्रिपाठी। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के 'इस बार' के स्तंभकार श्री रामकुमार 'भ्रमर' के शब्दों में 'पुराने तिलस्म का नया जादू'। भारतीय राजनीति के एक कुशल खिलाड़ी। लेकिन एक अनुभवी पत्रकार, साहित्यकार, चिंतक और निष्ठावान धार्मिक-सांस्कृतिक नेता भी। यदि वह केवल राजनीतिज्ञ होते तो शायद मेरी सूची में न होते। मैंने बात का सूत्र इसी संदर्भ में संभाला था कि पंडित जी तुरंत बोल उठे थे, 'वास्तविकता तो यही है कि मैं मूलत: राजनीतिज्ञ ही हूँ।'

'मैं आपकी इस बात से सहमत नहीं।'

'सहमति-असहमति की बात छोड़ो, मेरे भीतर का लेखक पत्रकार बहुत पीछे छूट गया है। दरअसल यह कहना कठिन है कि उस समय भी मैं पत्रकार अधिक था या स्वतंत्रता सेनानी ? 'प्रताप' के सम्पादक श्री गणेशशंकर विद्यार्थी, 'कर्मवीर' के सम्पादक श्री माखनलाल चतुर्वेदी, 'अभ्युदय' के सम्पादक श्री कृष्णकांत मालवीय—ये लोग कौन थे ? पत्रकार साहित्यकार अधिक या स्वतंत्रता-सेनानी अधिक ? वह ऐसा समय था कि एक संयुक्त ध्येय में सभी कुछ संयुक्त था। साहित्य-सृजन भी तब स्वातंत्र्य-संग्राम को प्रोत्साहन देने के लिए किया जाता था। पत्रकारिता भी इसी

ध्येय को समर्पित थी। तिलक, लाजपत राय, गांधी, जवाहरलाल भी लेखक पत्रकार नहीं थे क्या? वह एक स्थिति थी। हम लोग पत्र चलाते थे। लिखते थे, पर समय पर स्वयं सेवक बनकर दरियां भी बिछा लेते थे, डुग्गी तक बजा लेते थे। बाद में जब मैं संविधान-सभा का सदस्य था, दिन में संविधान निर्माण की मीटिंगों में भाग लेता था, शाम को उन्हीं मीटिंगों की रिपोर्टिंग करता था।

उन सब समर्पित राष्ट्रनेताओं का प्रभाव, और उस समय के माहौल का प्रभाव था मुझ पर। अपने सहपाठी कृपालानी के साथ युवराज के 'बायकाट' पर पकड़ा गया। 1920, 30-32, 42 के सभी आन्दोलनों में भाग लेकर जेल गया। सन् 30 से 45 तक 'आज' का सम्पादक रहा। उसके बाद 1952 तक 'संसार' का सम्पादन किया। दिल्ली में गांधी जी की प्रार्थना सभा, में पत्रकार के नाते रोज बिड़ला हाउस जाता था। पर मेरा दुर्भाग्य कि जिस दिन गांधीजी को गोली लगी, उस दिन मैं दिल्ली में नहीं था। वाराणसी में यह समाचार सुना तो धक्क रह गया। फिर बारह दिन लगातार 'संसार' मे अग्रलेख लिखता रहा—यानी इस रूप में, गांधी जी की तेरहवीं तक शोक मनाता रहा। उनकी भस्मी त्रिवेणी में प्रवाहित करने के लिए गई तो वहां शामिल हुआ। तभी एक प्रकाशक ने इन लेखों को एक छोटी पुस्तिका में छाप दिया। पुस्तिका को नाम दिया गया, 'बापू के चरणों में'।

ऐसे ही दिन थे वे। गांधी जी का आंदोलन केवल राजनीतिक नहीं था, वह नैतिक और आध्यात्मिक भी था। लक्ष्य बड़ा था, तो सभी बड़े लोग साथ थे। ऐसे प्रातःस्मरणीय लोग, जिनके साथ-संग के अनुभव की आज भी सुखद यादें हैं। लेकिन सत्ता-प्राप्ति के बाद, अब तो लक्ष्य मात्र सत्ता है। जितनी भौतिक उन्नति हुई है, मनुष्यता का उतना ही पतन हो गया है। देश बढ़ा है लेकिन मनुष्य गिरा है।

"आज के माहौल में मेरी निष्ठा और भविष्य के प्रति आस्था की बात तुमने उठायी थी। जानती हो, राजनीति मे हूँ, वह भी सत्ता-राजनीति में। कुछ बातें कही जा सकती है, कुछ नहीं। जो कही जाएंगी, वह भी एकांगी कथन हो जाएगा। इस पर कुछ कहूंगा नहीं। वर्तमान राजनीति मे रहते कुछ लिखता-पढ़ता नहीं। जो सात-आठ पुस्तकें लिखी थी, जेल में ही

बैठकर लिखी थी। उनमें से एक 'गांधी दर्शन' ग्रंथ पर 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' भी मिला था। अब अवकाश प्राप्त करने के बाद ही शायद कुछ लिखूं। लेकिन यह *कहता हूं कि कितना भी पतन हो, यह एक प्रवाह ही* है। हर लहर की तरह यह लहर भी अस्थायी है। भारत की आत्मा फिर उसी तरह जागेगी और जागेगा मनुष्य।.......... हां, मैं तुम्हारी इस बात से सहमत हूं कि भीतर-भीतर एक मथन चल रहा है, सामूहिक मंथन, और स्थितियां जल्दी ही करवट लेंगी। लोग अपने सांस्कृतिक मूल्यों की ओर लौटेंगे।

"जब सामूहिक मथन होता है तो क्या होता है? जानती हो न! जब समुद्र मंथन हुआ था—अमृत भी निकला, विष भी। इसी तरह वर्तमान मथन मे से एकबारगी अराजकता भी निकल सकती है, कुछ उचित, वांछनीय भी। पर मेरा विश्वास है कि यह देश अपनी हजारो वर्ष पुरानी संस्कृति का रास्ता ही पकड़ेगा। यदि देश मे कोई भीतरी शक्ति है तो वह इसे दिशा देगी। कम से कम अपने मूल्यो का स्मरण समय पर अवश्य कराएगी। आज विश्व-आकाश मे संभावित विनाश की भयंकरता के आतंक के जो बादल छाये हैं, *उसमें भारत ही एक आशा है, विश्व की। जब सारे संसार की दृष्टि दिशा* के लिए हमारी ओर लगी है तो हम अपनी दिशा कैसे भूल पाएगे ?

"यहा भारतीय-मूल्यों के प्रति भी दृष्टि साफ होनी चाहिए। भारत कभी विरागी नही रहा। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष...... ये चार पुरुषार्थ और जीवन में इनकी उपयोगिता, संतुलन और समन्वय ही हमारी जीवन-दृष्टि रही है। इस दृष्टि को अपनाए बिना मानव-कल्याण संभव नही। दुनिया को इस ओर ले जाने का प्रयास चारो ओर शुरू हो चुका है, वह सफल हो, यही कामना है।"

विनम्र, मृदुभाषी, किन्तु दृढता, साहस और धैर्य की प्रतिमूर्ति पंडित कमलापति त्रिपाठी ने एक बार फिर कांग्रेस (आई) की *डगमगाती नौका* की पतवार संभाली है। लगता है, उन्हें एक नाजुक मौके पर दल का कार्यकारी अध्यक्ष-पद सौंप कर प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने भी कुछ राहत अनुभव की होगी, क्योंकि ऐसे हाथों मे बागडोर आने पर संगठन को अवश्य ही कुछ स्थिरता मिलेगी। इस वयोवृद्ध वरिष्ठ नेता की निष्ठा जैसे बनारस, गंगा और कांग्रेस के साथ जुड़ी रही है, उसी तरह नेहरू परिवार

के साथ भी। त्रिपाठी जी ने अपने जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। आपात्काल में तो उन्हें इस निष्ठा के कारण बहुत कुछ सुनना झेलना भी पड़ा। पर कोई भी राजनीतिक उतार-चढ़ाव उनकी निष्ठा पर आया, कोई भी संकट उन्हें डिगा नहीं पाया।

शायद इसीलिए उनका दबदबा कायम है। संगठन उनके नेतृत्व में वटवृक्ष की-सी छाया अनुभव करता है। 80 के आसपास की वय में भी उनकी स्मृति, उनकी सजगता, उनकी तेजस्विता, उनकी चुस्ती और कार्यक्षमता कइयों के लिए ईर्ष्या की वस्तु है। उनकी 'चुप रहने की कला' भी अपना सानी नहीं रखती। इसलिए उनका अगला कदम, अगला दांव, क्या होगा, यह किसी को नहीं मालूम पड़ता। उनकी दृढ़ता की मिसाल है : उनके मुख्यमंत्रित्व काल में प्रदेश के मतभेद या झगड़े, सुलझाव के लिए दिल्ली नहीं लाए गए, वहीं सुलझा लिए गए—अपनी बात पर टिके रह-कर या इस्तीफा देकर भी। शायद इसीलिए हर उतार के बाद उन्होंने फिर-फिर चढ़ाव देखा। पंडित जी से पूछें तो कहेंगे, 'सब काशी-विश्वनाथ की कृपा है।'

देश के भविष्य के प्रति उनकी निष्ठा के पीछे भी उनका यही विश्वास है, 'इतिहास का अध्ययन करिए, जब पतन होता है तो चतुर्दिक पतन होता जाता है। अभ्युत्थान होता है तो चतुर्दिक अभ्युत्थान होता दिखाई देता है। मैं नियति को मानता हूं। जो पहले से तय है, वह होता ही है, उसे कोई रोक नहीं सकता। हमारे कर्म भी तो नियति से प्रभावित होते हैं। समय आएगा, जब कोई ऐसा नेता हो जाएगा जो बोलेगा तो लगेगा, युगवाणी बोल रही है। और इस देश का भाग्य पलटेगा।'

श्री कमलापति त्रिपाठी का जन्म वाराणसी में 3 सितम्बर 1905 को हुआ। शिक्षा सेंट्रल हिन्दू स्कूल और काशी विद्यापीठ में हुई। 15 वर्ष की किशोरावस्था में ही स्वतंत्रता-संग्राम में भाग लिया और फिर कई बार जेल गए। लम्बे समय तक उत्तर प्रदेश में विधायक, मंत्री और मुख्य-मंत्री पदों पर रहे, फिर केन्द्रीय सरकार के विभिन्न मंत्रालयों के मंत्री। काशी विद्यापीठ के चांसलर तथा अनेक संस्थाओं, कमेटियों से भी जुड़े रहे। उनकी प्रमुख कृतियां मौर्यकालीन भारत, इस्लामी दुनिया का सरताज, चीन और चियांग हैं।

अपनी हर व्यस्तता में भी प्रतिदिन पूजापाठ में लंबा समय बिताने वाले, धार्मिक कर्मकांड और यज्ञ, हवन मे गहरी आस्था रखने वाले पडित कमलापति त्रिपाठी पहली नजर मे एक धर्माचार्य या महंत जैसे दिखाई देते हैं—धवल. कलात्मक केशराशि, चौडे ललाट पर चमकता चंदन-तिलक, गले में दुपट्टा और वैसी ही आर्शीर्वचन वाली मुद्रा। उस पर अपने प्यारे, मीठे संबोधन से हर किसी को बाध लेने को क्षमता। लेकिन किसी के लिए भी उनके अंतर की थाह लेना कठिन है। यह भी देखकर हैरानी होती है कि हर व्यस्तता में, हर किसी के साथ खुले मन से मिलने, बात करने के लिए प्रस्तुत है। तरह-तरह की अफवाहों के बीच हमेशा स्थितप्रज्ञ है—एक अनुभवी, सुलझे हुए नेता की तरह व्यक्तियो और स्थितियों की टोह लेते हुए। तभी तो उन्हे कठिन समस्याओं को सुलझाने मे माहिर माना जाता है।

बढ़ती उम्र के साथ उनकी बुद्धि, कार्यक्षमता भी जैसे बढ ही रही है। न जाने उनके काशी विश्वनाथ ने अभी उनसे क्या-क्या काम लेने है ?



हिन्दू संस्कृति के नवोन्मेष के
लिए कृत संकल्प

डा. कर्णसिंह



डा. कर्णसिंह को मैंने कभी भी एक राजनीतिक नेता के रूप में नहीं पहचाना। वह राजनीतिज्ञ भी रहे, मंत्री भी, पर उनका धार्मिक-सांस्कृतिक नेता और कलाकार व्यक्तित्व का सर्वप्रिय रूप ही उभर कर उन पर हावी रहा। आज के अर्थ में शायद सफल राजनीतिज्ञ उन्हें माना भी नहीं जा सकता। लेकिन राजनीति और नीति को अलग करके न देखने वाले कुछ लोग अभी भी राजनीति में हैं, जिन पर देशवासियों की भावी आशाएं टिकी हैं। डा. कर्णसिंह उन्ही में से एक हैं। उनकी पहचान राजनीतिक नेता की नहीं, सांस्कृतिक नेता की ही है। संस्कृति के क्षेत्र में भी इधर उनका एक नया रूप उभरा है—हिन्दू धर्म की वर्तमान कमियों को दूर करने और देश के व देश की सीमाओं के बाहर विश्व भर में फैले हिन्दुओं को एक मंच पर लाकर उन्हे उनकी खोई पहचान वापस दिलाने का बीड़ा उठाने वाले एक सशक्त संगठक का रूप। 'विराट हिन्दू सम्मेलन' के अध्यक्ष के नाते उन्होंने जो विराट अभियान शुरू किया है, इससे वह अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर एक राष्ट्रीय नेता के रूप में अवतरित हुए हैं।

17 जुलाई 1983 को राजधानी स्थित उनके कार्यालय रामायण विद्यापीठ में उनसे भेंट के समय मैंने इसी पहचान को सामने रख कर कुछ प्रश्न उठाये, 'मैंने आपको विशुद्ध राजनीतिक नेता कभी नहीं माना। मानतो, तो शायद मेरे इस संकलन में आप आते ही नहीं। फिर अब तो आपका जो कार्य व स्वरूप सामने है, इस संदर्भ में आज की देश की स्थिति और राजनीति पर आपका अभिमत ?'

डा. कर्णसिंह के सौम्य व्यक्तित्व से सहज, सस्मित उत्तर आया, 'यह ठीक है कि आम अर्थ में मैं राजनीतिज्ञ कभी नहीं रहा, लेकिन राजनीति से मुझे विशेष परहेज भी नहीं रहा। बुद्धिजीवियों का इस तरह राजनीति से कतराना कोई शुभ लक्षण नहीं। राजनीति तो लोकशक्ति-संग्रह का माध्यम है। लेकिन राजनीति को इस तरह नीतिरहित करना देश के लिए कभी भी शुभ नहीं रहा। इस राजनीति ने आज समाज के हर पहलू में जिस तरह प्रवेश किया है, उसका दुष्परिणाम सामने है। इसलिए मैंने इधर राजनीति से अलग समाज-सुधार, हिन्दू संगठन और हिन्दू समाज की आंतरिक कमियों में सुधार की ओर विशेष ध्यान लगाया है। यह हिन्दुत्व ही है, जिसने पचास शताब्दियों से भी अधिक समय से भारतीय इतिहास के साथ खिलवाड़ किए जाने के बावजूद, अनेक बाधाओं की विद्यमानता के बावजूद, एक व्यापक सामाजिक संस्कार की रचना की। भारतीय इतिहास हिन्दुत्व के बिना उसी तरह अग्राह्य है जैसे इस्लाम के बिना अरब इतिहास और ईसाईयत के बिना लातीनी अमरीका का इतिहास। हिन्दुत्व बहुसंख्यक भारतीयों का धर्म रहा है। मुस्लिम व ब्रिटिश शासन कालों में भी बहुसंख्यक भारतीय हिन्दू ही थे। तब से 1981 की जनगणना तक भी (हमारी नादानी से हममें से एक बड़ी संख्या के दूसरे धर्मों में चले जाने के बावजूद) 80 प्रतिशत भारतीय हिन्दू ही हैं। फिर भी दुर्भाग्य से हिन्दू ही उपेक्षित रहे। आज भी उपेक्षित है, क्योंकि असंगठित हैं। तो जरूरत समझी गई कि हम हिन्दुओं का भी एक विशाल संगठन और मंच हो।

'क्या आप नहीं मानते कि यह काम बहुत देर से शुरू किया गया? अब भी यदि मीनाक्षीपुरम में सामूहिक धर्म-परिवर्तन जैसी घटना न घटती और पूरे देश में इसकी व्यापक प्रतिक्रिया न होती तो क्या 'विराट हिन्दू सम्मेलन' जैसा कोई विचार सामने आता?'

'आपकी बात काफी हद तक ठीक है। पर आप इसे हिन्दू जगत की एक दुर्घटना कहें, मैं भगवत् कृपा ही कहूँगा कि भगवान ने हमें यह झटका देकर जगा दिया। यदि समूचे देश को चौंकाने और झकझोरने वाली यह घटना न घटती तो शायद हम आज भी न चेतते। इतिहास इसी तरह करवट लेता है। कुछ घटनाएं होती हैं, जो समय की बहती धारा में मोड़

लाया करती हैं। नयी उपलब्धियों के लिए द्वार भी यहीं से खुलते हैं। विराट हिन्दू सम्मेलन की स्थापना और इसके माध्यम से एक के बाद एक विशाल सम्मेलन और धर्मान्तरण की लौकनी लहर पर रोक इस मोड़ की ही उपलब्धि है।

18 अक्टूबर 1981 को रामलीला मैदान, नई दिल्ली में, 4 अक्टूबर 1982 को कोचीन में, 7 नवम्बर 1982 को पटना में, 27 फरवरी 1983 को मथुरा में हुए इन सम्मेलनों में न केवल लाखों लोगों ने उमड़ कर भाग लिया, इतिहास से सबक ले, अपनी कमियों के निवारण व गलतियों के सुधार की ओर उनका ध्यान भी आकृष्ट हुआ। सबसे बड़ी बात थी, अनेक मत-मतान्तरों वाले हिन्दू सम्प्रदायों का एक मंच पर जुड़ना और मठाधीशों, मंडलेश्वरों, धर्माचार्यों को इकट्ठा करके उनकी बात इस मंच से कहलाना। कितनी भी प्रगतिशीलता का दम भरें, समय की लहर में कितने ही बह जायें, हम आज भी मूलतः धार्मिक ही हैं। इसलिए अपने धर्माचार्यों की बात सुनते हैं। अतः इस मंच से हिन्दू-पुनर्जागरण का जो कार्य शुरू हुआ है, वह अब रुकेगा नहीं। हमें अब निरन्तर जागृत रहना है, सोना नहीं है। हिंदू सभी धर्मों का समान आदर करता है, इसलिए अल्पमत लोगों पर हावी नहीं होना है हमें, लेकिन उनसे दबना, हारना भी नहीं है। हमारे यहां अल्पसंख्यकों के संरक्षण के नाम पर बहुसंख्य हिन्दुओं को दबाया जाता रहा है। वे लोग जो कहें, वह अल्पसंख्यकों की आवाज मानी जाये और हमारी बात या माग को साम्प्रदायिक रंग दिया जाए, यह अब आगे और सहन नहीं किया जाएगा।'

'राजनीति या शासकीय नीति की बात अलग रख कर देखें, तो हमारी अतिरिक्त उदारता भी क्या इसके लिए जिम्मेदार नहीं ? इस तरह अपनी जातीय हानि और धार्मिक शोषण के लिए हम स्वयं ही बहुत हद तक दोषी हैं, क्या आप ऐसा नहीं मानते ?'

'यह हिन्दू धर्म की उदारता ही थी, जिसने सदियों-सदियों तक इतिहास के झटके सहते हुए भी न केवल बाहरी जातियों को अपने में समाहित किया, आक्रमणकारियों तक को सहन कर यहां बसने और अपने ऊपर राज्य करने का अवकाश दिया। लेकिन हिन्दू धर्म की 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'बहु जन हिताय' वाली भावना ने ही उसे अजर-अमर भी रखा है।

संसार के नक्शे से जहां अनेक सभ्यताओं का नामोनिशान मिट गया, हिन्दुत्व न केवल भारत में जीवित रहा, देश की सीमाओं के बाहर भी दूर-दूर तक पहुंचा। इसलिए हिन्दुत्व को भारतीयता के अर्थ में लेना भी गलत होगा। फिजी का हिन्दू भारतीय नहीं। सूरीनाम का हिन्दू भारतीय नहीं। नेपाल हिन्दू राष्ट्र है, यहां का हिन्दू भारतीय नहीं। फिर आज तो विश्व के सभी देशों में हिन्दू हैं। इनमें से जिन्होंने वहां की नागरिकता ग्रहण कर ली है, वे भी भारतीय नहीं। हिन्दुत्व एक विश्व धर्म है, जो सर्वाधिक मानव धर्म है। अब सारे संसार में जो मानवीय संस्कृति उभर रही है (हर बिखराव के बाद यह उभरती है) उसमें हिन्दू धर्म का एक विशिष्ट स्थान होगा और उसे विश्व धर्म की मान्यता मिलेगी। विराट हिन्दू सम्मेलन के सामने यही परिकल्पना है, यही ध्येय है। इस ध्येय प्राप्ति के मार्ग में अस्पृश्यता जैसी कमियों को कोई स्थान नहीं।

'इस मंच से हिन्दू समाज में सुधार के लिए आपने क्या-क्या योजनाएं बनायी हैं?'

'मुख्य योजना तो सभी हिन्दुओं को एक सामूहिक मंच प्रदान करना है कि हिन्दू संगठनों को बल मिल सके और समाज-सुधार का कार्य आसान हो सके। यहां पहले मैं यह स्पष्ट कर दूं कि व्यक्तिगत सदस्यता की इस संगठन में व्यवस्था नहीं है। इसकी सदस्यता केवल संगठनों के माध्यम से ही हमें कार्य का विस्तार देना है। अगला कार्य सुधार का है, जिसके लिए हमने 'सात सूत्री' योजना बनायी है। ये सात सूत्र हैं, क्रमशः सामाजिक सुधार, आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा, महान ग्रंथों के संदेश का प्रसार, कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण, हिन्दू-हितों का अनुसरण, हिन्दू सम्मेलन और हिन्दू धर्म के विश्वव्यापी स्वरूप को व्याख्यायित करना।

'लोकतांत्रिक समाज में अस्पृश्यता किसी भी रूप में गर्हित है। हमें हरिजनों, वनवासियों सहित अपने सभी भाई-बहनों को साथ लेकर चलना है। उनके लिए पेय जल, मंदिर प्रवेश, सामाजिक भोज और सामूहिक उत्सवों में कथित सवर्णों के साथ समान भागीदारी की व्यवस्था करना है। महिलाओं की सामाजिक स्थिति घटाने वाली दहेज जैसी कुरीतियां और छुआछूत की भावना हिन्दू धर्म और वेदान्त के मूल संदेश के खिलाफ हैं। अतः सुधार का पहला काम इसी आन्तरिक सुधार से करना है।

"आधुनिक भारत की विपुल त्रासदियों में से एक है धर्मनिरपेक्षता, जिसके नाम पर हमने अपनी शैक्षणिक प्रणाली को नैतिक आध्यात्मिक मूल्यों से रहित कर दिया है। परिणाम है : सारे राष्ट्र का भ्रष्टाचार के दलदल मे फंस जाना। एक ओर हमें केन्द्रीय व राज्य सरकारो पर दबाव डालकर शैक्षणिक पाठ्यक्रमों में नैतिक शिक्षा को सम्मिलित कराना है, दूसरी ओर स्वयं भी पहल करके अपनी घटक इकाइयों द्वारा गैर सरकारी विद्यालयों का संचालन करना है। तीसरी ओर इसके लिए समुचित पाठ्य पुस्तकें व पूरक साहित्य तैयार कराना है। हम वायु व जल-प्रदूषण के लिए कानून बनाते हैं तो क्या सामाजिक प्रदूषण के लिए ऐसे प्रतिबिम्ब नही चाहिए ? हमारी फिल्मों मे बलात्कार, हिंसा, अपराध, आतंक व अश्लीलता के प्रदर्शन ने हमारे युवा वर्ग को गुमराह किया है। इसके विरुद्ध रोष प्रगट करके एक सुदृढ़ जनमत तैयार करना भी हमारी नैतिक शिक्षा का एक अंग होगा।

"संस्कृत भाषा और महान ग्रंथों के अध्ययन का ह्रास जीवन मूल्यो के तिरोभाव का एक प्रमुख कारण है। युवा पीढी के प्रशिक्षण व उत्थान के लिए यह अध्ययन भी हमारी शिक्षा प्रणाली का अविभाज्य अंग बने, इस कोशिश के साथ प्रारंभ मे हमने गीता के पत्राचार-पाठ्यक्रम की योजना लागू कर दी है।

"चौथा कार्यक्रम है : प्रचारक, संगठक कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण, जो कार्यक्रम को प्रभावी ढग से चला सकें। पुजारियो के प्रशिक्षण और हिन्दू मठ-मंदिरो की प्रबंध व्यवस्था में सुधार के लिए भी कदम उठाये जा रहे हैं।

"पांचवां महत्वपूर्ण कार्यक्रम है : हिन्दू-हितो की रक्षा के लिए संघर्ष। राष्ट्र की 80 प्रतिशत जनसंख्या के हित और राष्ट्रहित मे सामान्यतः कोई विरोध नही होना चाहिए। लेकिन है। हिन्दू-अवकाशों की संख्या राष्ट्रीय अवकाशों की सूची में कम करना इसका एक ताजा पीड़ादायक उदाहरण है। इसके विरोध में और गौ-रक्षा कानून को लागू कराने के लिए भी हमने कदम उठाये है। बहुसंख्यक धार्मिक समुदाय के उचित अधिकारो से छेड़छाड़ के प्रश्न पर हमें निरन्तर सतर्क रहना है।

"समय-समय पर, स्थान-स्थान पर हिन्दू सम्मेलन भी हिन्दू-मन को तैयार करने के लिए जरूरी हैं। पिछले सम्मेलनों के अनुभव से हमने पाया कि हिन्दू समाज एक बार फिर नवजागृति के लिए तैयार है। शत्रुतापूर्ण प्रहारों का सामना करने के लिए ही नहीं, आन्तरिक सामाजिक सुधार के लिए भी। दिल्ली-सम्मेलन मे दस लाख से ऊपर लोग जुटे। इसका उल्लेखनीय वैशिष्ट्य यह भी रहा कि हिन्दुत्व की मूल धारा से उत्पन्न सभी धर्मों के अनुगामी इसमें शामिल हुए और जैन, सिख, बौद्ध नेताओं ने भी सम्मेलन को सम्बोधित किया। इस अवसर पर दिल्ली की वाल्मीकि कॉलोनी में हरिजन महिला सहभोज भी आयोजित किया गया। इसके बाद कुम्भ के अवसर पर प्रयाग मे एक संत सम्मेलन भी जुड़ा। कोचीन के सम्मेलन में लगभग पांच लाख स्त्री-पुरुष शामिल हुए। केरल मे इससे पहले इतना विशाल जनसमूह कभी एकत्रित नहीं हुआ था। इससे हम आश्वस्त हैं कि हिन्दू अब सजग है और वह भविष्य मे पराजित मनोवृत्ति व नकारात्मक रवैया नहीं अपनायेगा।

"यह ठीक है कि विश्व भर के हिन्दुओं में से 90 प्रतिशत भारत में हैं। लेकिन शेष 10 प्रतिशत भी हमारे भाई है और यह एक तथ्य है कि हिन्दू धर्म विश्व के महान धर्मों मे से एक है। तो विश्व हिन्दू-एकता को स्थापित करने, विदेशो मे बसे हिन्दुओं में असुरक्षा-भावना दूर करने तथा आगे हिन्दू संख्या को गरीबी व अस्पृश्यता आदि कारणो से बंटने न देने के लिए हमने दिल्ली में एक 'विश्व हिन्दू-केन्द्र' की स्थापना की योजना बनायी है। यहां से सूचनाए प्रसारित करने, 'विश्व बन्धुत्व' की भावना का प्रसार करने और विदेशो मे हिन्दुत्व की शिक्षा देने की व्यवस्था की जाएगी। हमें आशा है जिन राष्ट्रों ने आर्थिक समृद्धि, सम्पन्नता प्राप्त करने के बाद अपने आपको भारी तनावों से ग्रस्त कर लिया है, वे भी मानव मात्र के लिए कल्याणकारी हिन्दू धर्म के संदेश से प्रेरणा ग्रहण करेंगे।"

डा. कर्णसिंह का जन्म 9 मार्च 1931 को हुआ। 18 साल की उम्र में वह राजनीति में आ गए। 1949 में श्री नेहरू के कहने पर उनके पिता महाराजा हरिसिंह ने उन्हें जम्मू-कश्मीर का 'रीजेन्ट' बना दिया था। इसके बाद 1952 तक वह रीजेन्ट रहे। 1952 से 1965 तक निर्वाचित 'सदरे रियासत,' फिर 1965 से 1967 तक गवर्नर। 1967 मे जब वह राष्ट्रीय राजनीति मे आए, तब भी उनकी उम्र केवल 36 वर्ष थी—मन्त्री-

परिषद में सबसे कम उम्र के नागरिक उड्डयन एवं पर्यटन मन्त्री। 1973 में उन्हें स्वास्थ्य व परिवार नियोजन मंत्री बनाया गया, 1979 मे शिक्षा तथा संस्कृति मंत्री।

मंत्री रूप में डा. कर्णसिंह ने न कभी वेतन लिया, न सरकारी निवास का उपयोग किया। यही नही, उन्होंने अपने महल 'अमर महल' को भी राष्ट्र को समर्पित कर दिया, जिसमें आज पुस्तकालय और संग्रहालय हैं। डा. कर्णसिंह अनेक धार्मिक संस्थाओं से जुड़े है, जिनमे से प्रमुख हैं—'जम्मू-कश्मीर का धर्मार्थ ट्रस्ट'। इस ट्रस्ट के अधीन सुप्रसिद्ध वैष्णव देवी मन्दिर और रघुनाथ मन्दिर सहित, कुल सौ के लगभग मन्दिरों की व्यवस्था है। दूसरी प्रमुख धार्मिक संस्था 'विराट हिन्दू सम्मेलन' की उम्र अभी केवल दो वर्ष है, फिर भी इसकी गतिविधियों और उपलब्धियों से आज सारे देशवासी परिचित है। इस महान कार्य का बीड़ा उठाने के साथ ही डा. कर्णसिंह की यायावरी प्रवृत्ति और बढ़ गई है। अपनी जिज्ञासु प्रवृत्ति के कारण देश-विदेश की यात्राए वह पहले भी बहुत करते थे। अब तो एक विशाल संगठन के संगठक के नाते वह नियमित यात्राए कर रहे है।

यो डा. कर्णसिंह से अनेक अवसरो पर मिलना होता रहा, उनके धाराप्रवाह संस्कृत भाषणों ने भी प्रभावित किया, उनके शुद्ध, सस्वर काव्य-पाठ ने भी, पर इस आलेख के लिए अलग से समय लेने पर बातचीत मुख्यतः उनके वर्तमान कार्य पर ही सीमित रही। समयाभाव से (यहां स्थानाभाव से भी विस्तार में जाना संभव नहीं) शेष प्रश्नो पर उन्होंने कहा, "मैंने अपनी आत्मकथा का पहला भाग 'हेयर अपेरेन्ट' शीर्षक से लिखा है, जिसे ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस ने छापा है। उसमे मेरे जीवन के 22 वर्षों के पृष्ठ खास और आम लोगो के लिए खुले हैं। उसे देखिए।"

डा. कर्णसिंह ने राजनीति, दर्शन, यात्रा-संस्मरण, लोक संगीत, आदि अनेक विषयों पर कई पुस्तकें लिखी हैं। अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, डोगरी भाषाओं पर उनका समान अधिकार है। वह एक उत्तम वक्ता हैं और कलाप्रिय सहृदय गायक कवि। जिन्होंने भी उन्हे धाराप्रवाह बोलते हुए और सस्वर उपनिषद्-पाठ, रामायण-पाठ, या काव्य-पाठ करते सुना, वे उनकी वाग्मिता के नानावर्णी चमत्कार से परिचित है। नाटकीयता या

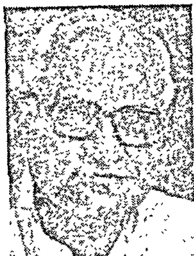
वृथा भावुकता का प्रश्रय न लेकर, सयम-विवेक के साथ भी, वह श्रोताओं पर अपनी वाणी का जादू छोड़ते चलते हैं। इसलिए वह एक राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक नेता ही नहीं, अपने लोकप्रिय, प्रभावी और प्रबुद्ध व्यक्तित्व के कारण युग पुरुष भी हैं, समय जिनका आकलन अवश्य करेगा।

अपने व्यक्तित्व की इन विशिष्टताओं के कारण डा. कर्णसिंह सामान्य जन और विद्वत्‌जमात में समान रूप से आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। लेकिन सबसे ऊपर वह एक ऊंचे मानव हैं—अनावश्यक निंदा स्तुति, राग-द्वेष से तटस्थ, जिनके पारिवारिक जीवन, निजी जीवन व सामाजिक जीवन की छवि समान रूप से निर्मल है।



राजनीतिक से रचनात्मक क्षेत्र की ओर

नाना जी देशमुख



सन् 1975 देश का आपात-स्थिति काल। मोरारजी देसाई, जयप्रकाश नारायण जैसे प्रथम पंक्ति के नेताओं से लेकर प्रतिपक्ष के सभी छोटे बड़े नेता-कार्यकर्त्ता पकड़े गए थे। ऐसे समय जनसंघ के अ भा. संगठन मंत्री नानाजी देशमुख का बाहर रहने का प्रश्न ही न था। पर नाना जी रहस्यमय ढंग से भूमिगत होकर सारे देश का प्रवास करते रहे और तानाशाही ताकतों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखते रहे। लेकिन 26 जून से 29 अगस्त तक ही वह भूमिगत रह सके। फिर उन्हें भी 'मीसा' के अन्तर्गत गिरफ्तार कर पहले दिल्ली व फिर अंबाला जेल भेज दिया गया था।

सन् 1977। रिहाई के बाद जयप्रकाश जी के आग्रह पर नाना जी ने पूर्वी उत्तरप्रदेश के गोंडा जिले से लोकसभा चुनाव लड़ा। विजयी हुए। पर जनता पार्टी शासनकाल में श्री देसाई के केन्द्रीय मंत्रीमंडल में शामिल होने से उन्होंने इंकार कर दिया। गोंडा से चुनाव के दौरान ही उन्होंने इस क्षेत्र की जो स्थिति देखी, उसके आधार पर घोषणा कर दी थी—"यह मेरा प्रथम व अंतिम चुनाव होगा और गोण्डा को ही मैं स्थायी कर्म-स्थली बनाऊंगा।' अपने इस संकल्प को लेकर वह मंत्रिमंडल के बाहर रहे और 5 मई, 1977 को जनता पार्टी के महासचिव बने।

सन् 1978। आगे बढ़कर उन्होंने 60 वर्ष से ऊपर आयु के सभी राजनीतिज्ञों से अपील की कि वे राजनीति से अलग होकर युवा खून को

कार्य करने का अवसर दें और स्वयं देश-निर्माण के रचनात्मक कार्यों के लिए समर्पित हो जाएं। लेकिन राजनीति और सत्ता का नशा इतना आसानी से कहां छूटता है। कोई भी बड़ा नेता उनकी अपील पर मोह के इस घेरे से बाहर नहीं आया। गांधी जी ने भी तो आजादी के बाद कांग्रेस-नेताओं से अपील की थी, 'स्वराज्य-प्राप्ति का लक्ष्य पूरा करने के बाद राष्ट्रीय कांग्रेस भंग कर देनी चाहिए और कार्यकर्ताओं को रचनात्मक कार्यों में लग जाना चाहिए।' लेकिन किसने मानी थी उनकी यह अपील? मानी होती तो खैर, इसके विस्तार मे जाने से विषयान्तर हो जाएगा।

अन्तरात्मा की आवाज पर जब भी कोई नेता इस तरह का आह्वान करता है, प्रारम्भ में प्रायः अकेले ही चलना पड़ता है। नाना जी ने भी यही किया। संकल्प का संबल लेकर 'एकला चलो' वाली नीति अपनाई और बस चल पड़े। अप्रेल से अक्टूबर तक का ही समय लगा इसमे। अप्रेल में नाना जी ने वृद्ध नेताओं से राजनीति त्यागने की अपील की थी। मई में उन्होंने गोण्डा जिले को सर्वांगीण विकास के लिए चुन लिया। 8 अक्टूबर को पटना में जयप्रकाश जी की उपस्थिति में जीवन के 61 वर्ष पूरे होने पर उन्होंने राजनीति से संन्यास लेकर शेष पूरा जीवन ग्राम विकास मे लगाने के अपने संकल्प की घोषणा कर दी। तब से वह इसी उद्देश्य व इसी कार्य को समर्पित हैं।

अद्भुत संगठनकर्त्ता के रूप मे नानाजी की देश व्यापी-ख्याति थी ही, इस रचनात्मक क्षेत्र मे भी उनकी संगठन-क्षमता रंग लाई और गोण्डा प्रकल्प (प्रोजेक्ट) की उपलब्धियो ने सारे देश का ध्यान आकर्षित किया। इतनी कम अवधि में गोण्डा जैसे पिछडे क्षेत्र की भारी सफलताओं से उत्साहित होकर अब तो सिंहभूम (बिहार), सुन्दरगढ (उड़ीसा) तथा बीड (महाराष्ट्र) के पिछडे आदिवासी क्षेत्रों को सर्वांगीण विकास के लिए चुन लिया गया है। ये 'माडल प्रोजेक्ट' या प्रकल्पो के आदर्श नमूने आगे कहां-कहां, कितनी प्रेरणा जगाएगे, यह भविष्य के गर्भ मे होने पर भी गहन अंधेरे मे जुगनू की तरह कौंध रहा है। राह से भटक जाने के बाद यह कौंध कम से कम दिशा-सकेत तो कर ही रही है। इस दिशा मे चलने के लिए आगे कितने लोग, कितने नेता आएंगे, नव-निर्माण की उज्ज्वल सभावनाएं इसी अनुमान पर टिकाई जा सकती हैं।

नाना जी देशमुख जब तक राजनीति में रहे, मैं उनके बारे में केवल पढ़ती-सुनती रही। उनसे कभी मिली न थी। आपातकाल की समाप्ति के बाद वह पहले से अधिक चर्चित हुए इसीलिये ही नहीं। (चर्चित तो उन दिनों कई लोग हुए, जिनमे से कई गढ़ बाद में ढह गए), मेरा विशेष ध्यान खींचा, राजनीतिक सत की-सी उनकी घोषणाओं ने। कितने लोग हैं, जो राजनीति मे जमने और एक ऊंचाई पर पहुंचने के बाद उससे पल्ला झाड़ कर यूं अलग हट जाएं। और यह हटना संघर्ष से पलायन न होकर अपेक्षाकृत अधिक श्रम-संघर्ष की रचनात्मक दिशा पकड़ ले।

महामन्त्री जनता पार्टी एवं संसद सदस्य के नाते वर्ष 1977 के अंत का उनका एक वक्तव्य मेरे सामने है, 'सन् 1977 को मैं मानव-इतिहास का अभूतपूर्व वर्ष मानता हूँ। विश्व में तानाशाही हुकूमतें आती-जाती रही है, मगर एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता, जिसमें बिना खून बहाए लोग तानाशाह एवं तानाशाही सत्ता से मुक्त हुए हों। कथित अहिंसा द्वारा प्राप्त आजादी के दिनों भी विभाजन पूर्व बंगाल और पंजाब मे भयंकर खून-खराबा हुआ, जिसमें हजारों जानें गई और लाखों घर उजड़े।........वर्ष 1977 की दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि है, ससार में भारत के गरीब, अनपढ़ और गंवार कहे जाने वाले आम मतदाता की समझ का सम्मान बढ़ना। उस परिपक्व राजनीतिक समझ का, जिसने बुद्धिजीवियों के, कूटनीति में इतनी कुशल प्रधानमंत्री तक के पूर्वानुमानों को उलट दिया था।"

इन उपलब्धियों के बाद जनता की अपेक्षाओं को यदि जनता-शासकों की आपसी फूट ने निराश किया, तो लम्बी प्रतीक्षा और कठिन संघर्ष के बाद हाथ आए एक महान अवसर को खो देने के बाद उन्होंने नाना जी के भीतर के कर्त्तव्यनिष्ठ साधक और प्रभावी सगठनकर्ता को भी अवश्य निराश किया होगा।

अतः स्वाभाविक था कि उनसे साक्षात्कार के समय मेरा पहला प्रश्न यही होता :

"आपके राजनीति से उचाट होने के पीछे यही सघन निराशा थी या कि आपके भीतर पकती हुई अन्य मानसिक स्थितियों का भी इसमें योगदान रहा ?"

"सोच की, निरंतर सोच की मानसिक स्थितियां ही मेरे भीतर प्रभावी रही। जनता सरकार बाद मे टूटी, रचनात्मक क्षेत्र में जाने का निर्णय मैंने अपने समदोय चुनाव क्षेत्र मे घूमते समय ही लोगों की हालत देख कर ले लिया था। आर्थिक गरीबी ही नहीं, मानसिक गरीबी उससे भी बदतर हो चुकी है हमारे यहा। पिछले 35-36 साल से हमारी राजनीति देश का नवनिर्माण करने मे बुरी तरह विफल रही है। वर्तमान राजनीति की इस वैचारिक देन, कि राष्ट्र की सामाजिक-आर्थिक पुनर्रचना शासन के माध्यम से ही सभव है, ने हमारे सोचने का ढंग ही यह बना दिया है कि सत्ता बिना हम क्या कर सकते है? इस सोच का असर सर्वसाधारण पर भी यही पड़ा कि जो करेगा, शासन ही करेगा। हमारे हाथ में क्या है, सिवाय वोट के अधिकार के? और वोट की राजनीति का असर आप नगर-नगर, गाव-गांव मे देख ही रही है।

"इस सोच का दूसरा दुर्भाग्यपूर्ण पहलू है कि हर समस्या के समाधान के लिए कानून बना दो। विनोबा जैसे संत ने भी अस्पृश्यता का समाधान अस्पृश्यता-निवारण कानून मे देखा। शंकराचार्य जैसे आध्यात्मिक शिरोमणि भी गौ-हत्याबन्दी के लिए कानून की माग करते हैं। पर केवल कानून से आज तक न छुआछूत मिटी, न गोवध बन्दी होगी। जनमानस मे परिवर्तन ही इन सामाजिक समस्याओं और दहेज जैसी कुरीतियो का निवारण कर सकता है।

'देश का नव-निर्माण आर्थिक हो या सामाजिक, हमारे सामने सास्कृतिक पुनरुत्थान का प्रश्न हो या राजनीति मे नैतिकता लाने का, पहली जरूरत है, सुधार व नव-निर्माण के प्रति सर्वसाधारण की उदासीनता को दूर करना। उसे हर बात के लिए सरकार का मुखापेक्षी होने से बचाना। हजार-ग्यारह सौ साल बाद मिली आजादी मे सदियो की मानसिक गुलामी के इस संस्कार को बदलना। यह सस्कार, यह चेतना देने का काम आजाजी के साथ ही शुरू होना चाहिए था। पर हुआ उल्टा। शासकों ने वोट के बदले सब कुछ देने के सब्जबाग दिखाए और आम लोग उन्हें वोट देकर, उन पर आशाएं केंद्रित करके निरुपाय मे बैठे रहे। वर्तमान गरीबी, विषमता, अकर्मण्यता, सरकार पर निर्भरता इन्ही स्थितियो की देन है। और अपेक्षाएं पूरी न होने पर निराशा या दलीय राजनीति व प्रशासकीय भ्रष्टाचार से उत्पन्न आक्रोश

की, अव्यवस्था व अनुशासनहीनता की स्थितियां इनकी परिणति।

'मैं लगातार सोचता रहा कि इस मानसिक गरीबी को मिटा कर ही गांव-गांव की आर्थिक गरीबी का निवारण संभव है। इसके लिए प्रेरणा जगाने वाले ऐसे कुछ नेता सामने आने चाहिए, जो स्वयं सत्ता-अधिकार से मुक्त हों और समर्पण भाव से जनता के बीच जाकर हजारों-हजार स्थानीय युवा कार्यकर्ता तैयार कर सकें। यही सोच कर अपने शेष जीवन को मैंने इस रचनात्मक कार्य के लिए समर्पित कर दिया।'

'क्या आप यह नही मानते कि इस कार्य के लिए काफी देर हो चुकी है? कुछ वर्ष पूर्व यह शुरुआत कहीं अधिक कारगर होती, क्योंकि तब स्थितियां इस कदर हाथ से नही निकली थी?

'मानता हूं। सबसे बड़ी हानि यह हुई है कि हम जनता का विश्वास खो चुके हैं। अपने कार्यक्षेत्र में जाकर डेढ़ वर्ष तो मुझे केवल यह विश्वास अर्जित करने में लगा कि मैं यह कार्य इस क्षेत्र से दुबारा चुनाव जीतने के लिए नही कर रहा। यह विश्वास भी मुझे तब मिला, जबकि एक चुनाव बीच मे से गुजर गया और उन्होंने देख लिया कि मैंने न वोट मांगा, न किसी को कोई राय दी कि वे किसे वोट दें, न दें।""पर यह भी मानना होगा कि हर बात, हर परिवर्तन का एक समय होता है। बहुत कुछ देख—भोग लेने के बाद, अनुभव ले लेने के बाद सोच की दिशा बदलती है और इसके बाद कार्य की दिशा भी बदल जाती है। किसी हादसे से उत्पन्न तात्कालिक निराशा का झटका भी दिशा-परिवर्तन का एक कारण बन सकता है। पर एक कारण ही, एकमात्र कारण नही। केवल निराशा टूटन देती है, नई शक्ति नही भरती। पलायन की ओर ले जाती है, नई दिशा नही देती। नई शक्ति लेकर नई दिशा में चलने के लिए तो आतरिक प्रेरणा चाहिए और इस प्रेरणा के लिए सोच की लंबी प्रक्रिया की आधारभूत तैयारी भी चाहिए।'

'खैर छोड़िए, यही समझ लीजिए कि जब जागें, वही से दिवसारंभ। हमारे यहां विकास का सही अर्थ है—ग्रामोदय। और जो भारतीय जनमानस का अध्ययन रखते है, वे जानते हैं कि यहाँ ग्रामोदय के लिए अधिक देर नही हुई है। जहां आस्था कायम है, वहाँ निष्ठावान कार्यकर्ताओ के पहुँचते ही कार्यारंभ हो सकता है। गोंडा की आशातीत सफलता इसका प्रमाण है। वहां हवा बदली है, जन-मनोविज्ञान बदला है कि 'हाँ, अपने बूते भी कुछ

हो सकता है। और बखूबी हो सकता है। बेशक यह अभी सीमित क्षेत्र है, पर दस-पांच नेता और इस ओर आएं तो विस्तृत क्षेत्र में भी हवा बदल सकती है। यह हवा बदले बिना देश का भला होने वाला नही।'

गोंडा की उपलब्धियां वास्तव मे आश्चर्यचकित कर देने वाली हैं। नाना जी की संगठन-क्षमता ने इस रचनात्मक क्षेत्र में भी यह कमाल कर दिखाया है कि इतने कम समय में इतना कार्य देख कर बड़े-बड़े विशेषज्ञ भी दंग रह जाते हैं। यहां इसके विस्तार में जाना संभव नहीं। संक्षेप मे—अक्टूबर, 1978 में जनसहयोग से सर्वांगीण विकास का एक नमूना प्रस्तुत करने के लिए दीनदयाल शोध संस्थान के माध्यम से नाना जी देखमुख ने पूर्वी उत्तर-प्रदेश के सबसे पिछड़े जिले गोंडा को अपनी प्रयोग-भूमि बना कर कार्य शुरू किया था।'

तीन वर्ष की अवधि में ही वहां तीस हजार नलकूप लगाए जा चुके थे, जिन पर सोलह हजार पंपिंग सेट काम कर रहे थे। बारह करोड़ रुपए की बैंक-ऋण की राशि वितरित की जा चुकी थी। एक ओर खर्च बचाने के लिए हजारों कूपों मे बांस के नल लगाए गए, दूसरी ओर ये नल स्वयं बनाने के लिए ग्रामीण-रोजगार में भी वृद्धि हुई। गांव की प्रतिभा के वैज्ञानिक-तकनीकी उपयोग से स्थानीय रोजगार के ऐसे अन्य अनेक साधन भी जुटाए गए। सात विकास-खंडो मे सघन सर्वेक्षण करके दस्तकार-परिवार खोजे गए। उन्हे ऋण दिलाने से लेकर औजार व कच्चा माल दिलाने, उनकी शिल्प-प्रतिभा का विकास करने, निर्मित माल के लिए बिक्री-केन्द्र स्थापित करने तक की व्यवस्था की गई। इसी तरह दुग्ध-उत्पादन, फल-सब्जी-उत्पादन, कुक्कुट पालन व अन्य ग्रामीण उद्योग-धंधो के विकास के साथ, सहकारी समितियों का गठन करना, बाजार खोजना, पशुधन मे देशी नस्लो के विकास के लिए अनुसंधान शाला खोलना, पर्यावरण-शोधन के लिए बड़े पैमाने पर वृक्षारोपण करना, जन-स्वास्थ्य व चिकित्सा के लिए विस्तृत कार्यक्रम चलाना, मातृ-शिशु केन्द्र, और बाल-विकास के लिए सर्वांगीण शिक्षा-केन्द्र स्थापित करना, सामाजिक जागरण, ऐक्य-भावना और जन-सहभाग के लिए विविध कार्यक्रम चलाना आदि प्रमुख कार्य गिनाए जा सकते हैं। मुख्य नारा था, 'हर हाथ को काम, हर खेत को पानी,' जो बहुत कम

समय में साकार कर दिखाया गया और अब जिसका विस्तार अन्य प्रान्तों के वनवासी क्षेत्रों में भी किया जा रहा है।

'सरकारी सामुदायिक विकास योजना व आपकी इस ग्राम-विकास योजना में क्या गुणात्मक अन्तर आप पाते हैं?' यह पूछने पर नाना जी ने सहज भाव से कहा, "सरकारी योजना तो अच्छी है, केवल उसके क्रियान्वयन में अन्तर है। वहां समर्थ आदमी योजना से अधिक लाभ उठाते हैं। बीच के कर्मचारी भी। पर जिनके लिए योजना होती है, उस निचले वर्ग तक लाभ का बहुत छोटा हिस्सा ही पहुँच पाता है। फिर आप कहीं एक भी ऐसी परियोजना बताइए, जहां लोग अपनी निजी प्रेरणा से उसमें भाग ले रहे हों। या उन्हें युगानुरूप नए जीवन-मूल्य देकर उनमें स्वावलंबन और स्वाभिमान जगाया गया हो। वास्तव में हमारा मुख्य उद्देश्य उत्पादन और आमदनी के स्तर को ऊंचा उठाना नहीं, 'आमूल परिवर्तन' लाना और 'सर्वांगीण विकास' करना है। यह काम सरकारी योजनाएं नहीं कर सकतीं। इसके लिए तो लोगों को स्वयं खड़ा करना होगा।"

"निश्चय ही बहुत बड़ा लक्ष्य है यह। पर निष्ठा, त्याग वाले मूल्यों के अकाल में आज कितने नेता व कार्यकर्ता जुटेंगे इस कार्य के लिए?"

"निष्ठावान कार्यकर्ताओं की आज भी कमी नहीं, ऐसे नेता ही सामने आने चाहिए, जो कार्यकर्त्ताओं को सही दिशा में ले जा सकें। त्याग स्वयं में कोई मूल्य नहीं। लक्ष्य सामने हो, सफलता की संभावना दीखती हो तो त्याग-मूल्य का उदय हो जाता है और समर्पित कार्यकर्त्ता भी जुट जाते है।...... भारत अपनी धुरी से अभी भी उखड़ा नहीं है तो इसका कारण है।..संसार में जितने देश हैं, उतने ही समाज व उतनी ही उनकी सभ्यताएं रहीं। कई सभ्यताएं आज संसार से पूरी तरह विलीन हो गई हैं। भारत पर भी बहुत आक्रमण-अत्याचार हुए। फिर भी हम टिके रह गए, तो क्यों? अपने कुछ ऊंचे जीवन-मूल्यों के कारण ही। पर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना रखने वाले हम अस्पृश्यता जैसी कुटेवों के शिकार हो गए, इसीलिए गुलाम हुए। यह चेतना ही जगाने की जरूरत है।"

"राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के साथ आप अग्रणी रूप में जुड़े रहे हैं।

संघ का मुख्य उद्देश्य अपनी अस्मिता की पहचान व यह चेतना जगाना ही रहा है। फिर कहां, क्या कमी रह गई कि……?"

"बस इतना मान लेना पर्याप्त है कि कमी रह गई और कई कारणों से हमारे कार्यकर्त्ता गांव-गांव मे जन-जन तक नहीं पहुँच सके। पर अब उनकी कार्यप्रणाली में बुनियादी बदलाव आ चुका है। इससे अधिक मैं न तो संघ के बारे में कुछ कहना चाहता हूँ, न आज की राजनीति पर कोई फतवे देना चाहता हूं। मैंने राजनीति से संन्यास ले लिया है और संन्यास का मतलब समझती हैं न। संन्यासी पीछे मुड़ कर कभी नहीं देखता। वह तो अपना घर, अपना नाम तक भूल जाया करता है। अब तो आगे ही देखना है। आगे, यानी नव-निर्माण या सामाजिक-आर्थिक पुनर्रचना के लक्ष्य की ओर। ये प्रकल्प तो नमूनों के रूप में एक शुरूआत भर है। पर थोड़े समय का अनुभव भी बताता है कि जन-जन में सहयोग-भावना विद्यमान है, केवल उसका उपयोग किया जाना चाहिए।

नाना जी देशमुख का जन्म 11 अक्टूबर, 1917 को ग्राम कड़ोली, जिला परभणी, महाराष्ट्र में एक निर्धन परिवार में हुआ। 1934 में वह 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' के स्वयंसेवक बने और डा. हेडगेवार से शपथ ली। 1940 से उन्होंने संघ के प्रचारक बन कर पूर्वी उत्तरप्रदेश के विभिन्न जिलों में कई दायित्व संभाले जिनमें गोरखपुर में प्रथम 'सरस्वती शिशु मंदिर' की स्थापना भी शामिल है। 1951 में 'भारतीय जनसंघ' के संगठन मंत्री रहे। फिर अखिल भारतीय कोषाध्यक्ष व अखिल भारतीय संगठन-मंत्री भी रहे। श्री दीनदयाल उपाध्याय के निकट सहयोगी रहने के कारण 1968 में उनकी हत्या के बाद 'दीनदयाल उपाध्याय स्मारक समिति' का गठन किया। फिर इसी समिति के अन्तर्गत 1972 में 'दीनदयाल शोध संस्थान' की स्थापना की, जिसकी गतिविधियों से आज सभी परिचित है। संस्थान के महासचिव के नाते कार्य करने के बाद नाना जी अब उसके अध्यक्ष हैं।

श्री जयप्रकाश नारायण के 'समग्र क्रान्ति आन्दोलन' के अग्रणी कार्यकर्त्ता के नाते पटना में जयप्रकाश जी पर हुए प्राणघातक लाठी-प्रहार को अपने ऊपर झेलने के कारण नाना जी की एक बांह टूट गयी थी। 24 जून,

1975 को जयप्रकाश जी द्वारा सभी विरोधी दलों तथा छात्रसंगठनों के सहयोग से जब 'लोक संघर्ष समिति' बनाई गई, तब भी नाना जी ने ही सारे खतरे उठा कर उसके महासचिव का कार्यभार संभाला था। सामान्यतः चुपचाप काम करने वाले मितभाषी नाना जी जैसा अनुभवी संगठनकर्त्ता और उद्भट रूप से कर्मठ व समर्पित कार्यकर्त्ता उन्हें दूसरा कहां मिलता। इसके बाद आपातकाल में उनके भूमिगत होने की व बाद के कार्य की कहानी सभी जानते हैं। विस्तार-भय से यहां उसकी संक्षिप्त रूपरेखा ही प्रस्तुत की गई है।

पर नाना जी मात्र कर्मठ कार्यकर्त्ता ही नहीं हैं, उनके निकट सम्पर्क में आकर उनके भीतर के सहज संवेदनशील मानव की जो आत्मीय झलक मिलती है, वह भी अभिभूत किए बिना नहीं रहती। अपने निजी परिवार से रहित आजीवन अविवाहित नानाजी देशमुख एक विशाल मानवीय परिवार को समर्पित हैं।



संविधान विशेषज्ञ विधिवेत्ता
साहित्यकार

डा. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी



"संसद् यानी साथ बैठना। आपको राष्ट्र की ओर से 'साथ बैठने' के लिए चुना गया है। संसद में साथ बैठने की एक संस्कृति है। एक मर्यादा है। उसके अपने उद्देश्य और प्रयोजन हैं। हमारा संविधान हमारी राष्ट्रीय संस्कृति और राष्ट्रीय प्रयोजन की मंजूषा है।" ...."स्वाधीनता के सुप्रभात मे देश की संविधान सभा ने भारतीय गणराज्य की संकल्पना को संस्थापित किया था। लोकतान्त्रिक स्वराज्य और मानवीय स्वातंत्र्य का एक भव्य प्रारूप बनाया था, जिसमें न्याय, क्षमता, स्वतन्त्रता, राष्ट्रीय एकता, मनुष्य की गरिमा और बन्धुत्व का उदात्त उद्घोष किया था। संसद को इस सकल्पना, आस्था, विश्वास, उद्घोष के अनुरूप होना चाहिए। यदि किसी समय हमारी संसद लोकतन्त्र की जीवन-शैली और उसके आधारभूत मूल्यो का प्रतिनिधित्व नही करती तो दोष लोकतान्त्रिक प्रणाली का ही नही, लोकमत ने जिनके हाथो मे राखी बांधकर यह अनमोल धरोहर जिन्हें सौंपी है, उनका भी है। तो यह सकल्प आपको ही करना है कि इस धरोहर को विक्रय और विनिमय की वस्तु नही बनने देंगे, उसकी अवमानना कर उसे विद्रूप और उपहास का निशाना नही बनने देंगे।"

ये शब्द हैं, भारत के प्रख्यात विधिवेत्ता और संविधान विशेषज्ञ डा. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के, जो उन्होंने 'सुनो सासद' शीर्षक से सातवी लोक सभा के लिए निर्वाचित भारतीय सासदों को सम्बोधित करते हुए कहे। डा.

सिघवी संविधान-व्याख्या को लेकर इस समय अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के एक प्रवक्ता हैं।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी डा. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठ अधिवक्ता और प्रख्यात संविधान विशेषज्ञ ही नहीं, एक चिन्तक साहित्यकार भी हैं। राजधानी के सांस्कृतिक क्षेत्र की एक प्रमुख हस्ती भी हैं। वह कानून के क्षेत्र में जितने जाने जाते हैं, साहित्यिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में उससे कहीं अधिक। समय-समय पर सामने आने वाले उनके विचारों, मन्तव्यों, लेखों को पढते-सुनते हुए मैं उनसे निरंतर प्रभावित रही। कभी उनके घर तो कभी बाहर साहित्यिक गोष्ठियों मे उनसे मिलने के मौके मिलते रहे। यद्यपि दो औपचारिक साक्षात्कारों को छोड़कर मैंने उनके साथ कभी खुली चर्चाओ का आस्वादन नहीं किया था, किन्तु पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से व गोष्ठियों आदि मे उन्हे निरंतर पढते सुनते हुए और कदम दर कदम उन्हें आगे बढ़ते देखते हुए मैं उनकी प्रगति की साक्षी भी रही, उनके विद्वत् व्यक्तित्व से अभिभूत भी। इसलिये इस पुस्तक के लिये उनसे ली गई ताजी भेंट के समय बातचीत, विश्व, देश, समाज व संविधान तक ही सीमित नहीं रही, उनकी विविध रुचियों, बहुविध गति-विधियों व असाधारण क्षमताओं के बारे में भी मैंने अपनी जिज्ञासा शांत की :

"कानून और ललित कलाओं जैसी विपरीत लगने वाली रुचियों और अनेक दिशाओं में एक साथ सक्रिय होने की आपकी व्यक्तित्व-विशेषता का रहस्य ?"

"समग्रता और संपूर्णता में विश्वास करने वाला मेरा जीवन-दर्शन। कानून के क्षेत्र में हूं, पर वहां भी कोरी व्याख्याओं से आगे मानवीय धरातल पर उनकी प्रासंगिकता के अध्ययन में रुचि रखता हूं। साथ ही दर्शन, साहित्य, ललित कलाओं में भी उतनी ही रुचि है। इन सबके समन्वय के बिना जीवन अधूरा लगता है। मानव जीवन का लक्ष्य अपूर्णता से पूर्णता व एकांगिता से समग्रता की ओर बढ़ना ही होना चाहिये। किन्तु आज हो रहा है इसका उल्टा। मानवीय अस्मिता खंडित हो रही है और मनुष्य समग्रता से खण्ड की ओर जा रहा है। मेरी कला-साहित्य रुचि खण्ड से अखण्डता की ओर यात्रा का ही अंग है। मैं कितना भी व्यस्त होऊं, कहीं भी होऊं, देश में या विदेश में, कोई अच्छा नाटक लगा है तो

थियेटर जाकर उसे जरूर देखना चाहूँगा। केवल कानूनी क्षेत्र शुष्क लगता है और इस सबके बिना जीवन में कुछ अधूरेपन का अहसास होता है।"

"लेकिन शक्तियों और समय की सीमा ?"

"मानता हूँ। यह बाधा कभी-कभी कचोटती भी है। लेकिन 'जहां चाह, वहां राह'। समय का संयोजन कर लें तो सब हो ही जाता है। वैसे भी आपने देखा होगा, जिनकी रुचि होती है, वे हर व्यस्तता में से समय निकाल ही लेते हैं। जो करते हैं, वही कर पाते हैं। उनकी क्षमताओं का विकास भी इसी तरह होता जाता है। जिन्हें रुचि नहीं, उनके लिये इन बातों का कोई अर्थ नही। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी इस बारे मेरे गुरु रहे। संपूर्णता की साधना मैंने उन्हीं से सीखी। वह एक प्रभावशाली वकील थे और चिन्तनशील रचनाकार भी। जब किसी नई रचना का सृजन करते, अपने वकील मित्रों से उसे छिपाते। जानते थे, उनकी इस अतिरिक्त योग्यता और साधना का लोग मूल्यांकन नहीं कर पायेंगे। उल्टे यह मानने लगेंगे कि साहित्यिक साधना के कारण वह वकालत में पिछड़ जायेंगे और इस प्रचार का प्रभाव सचमुच उनके कैरियर पर अनुकूल नही पड़ेगा। प्रायः हमारे समाज में सोच का नजरिया ऐसा ही है। जीवन से निःसंग होकर ही ज्ञान निर्बल पड़ता आया है।"

"यह बहुत कुछ व्यक्ति-व्यक्ति की अपनी घरेलू संस्कारिता पर भी निर्भर करता है कि हम जीवन को किस रूप में देखते व जीते हैं—नही ?

"संस्कारिता पर भी, जीवन-साधना भी पर। पर संस्कारों का मनुष्य के जीवन-निर्माण में बहुत बड़ा हाथ है। संस्कार बिना साधना संभव नही। संस्कार-अनुभव-साधना-मर्यादा-मूल्य, विकास-क्रम यही है। आस्था आधारित होने से मूल्य बिना तर्क हो सकता है, लेकिन संवेदन रहित नही। विवेक और अनुभूति मिल कर ही मूल्य-रचना करते हैं। वाक् तभी अर्थ-संपृक्त होता है, जबकि वह मूल्य संपृक्त भी हो। पुराने समय में हमारे यहाँ विशेषज्ञता पर जोर नहीं था, समग्रता पर था, लेकिन समग्रता विशेषज्ञता के साथ संपृक्त थी। अब विशेषज्ञता पर ही जोर है, समग्रता खंडित है। क्षेत्र बटे हों, उसमें बुराई नही, यदि संकीर्णता छोड़ दें और लक्ष्य अनेकता से एकता की ओर हो।"

"इसी प्रश्न पर बुद्धिजीवियों की भूमिका पर आपकी राय" ?

इसके उत्तर में डा. सिंघवी जरा रुककर अपना एक कविता-संग्रह उठा लाते है, "मैं कविता कम करता हूँ, पर कभी-कभी कुछ लिखने के लिये विवश हो जाता हूँ। इसे सुनिए," और उसमें से 'बुद्धिजीवी की विडंबना' शीर्षक अपनी एक कविता सुनाते हैं, 'मेरी मुश्किल यह है कि.......'। "वास्तव में मुश्किल यही है कि प्रबुद्ध वर्ग केवल सोचता है, करता कुछ नहीं। आपसी प्रतिस्पर्धा में ही उसकी शक्तियों का क्षय हो रहा है : लोक-शक्ति के जागरण व लोक-शक्ति को संगठित करने का कार्य कौन करेगा ? मेरी राय मे, प्रबुद्ध वर्ग एक सशक्त संगठन बने। (इसकी संभावना कम है, यह भी एक विडंबना ही है) और उसके माध्यम से लोक-शक्ति का संगठन हो तो बात बने, अन्यथा सत्ता पर सीधे अंकुश रखना आज उसके बश की बात नही।"

घूम फिर कर बात सत्ता पर आ ही गई थी। मैंने पूछ लिया, 'वर्तमान समाज में सभी क्षेत्रों पर राजनीति हावी है। प्रश्नो का उलझाव इसी स्थिति की देन है। ऐसे में देश का भविष्य आप क्या देखते हैं ? एक संविधान-विशेषज्ञ के नाते सत्ता पर संवैधानिक अंकुश और सत्ता द्वारा बार-बार संविधान-संशोधन पर आपकी राय जानना चाहती हूँ।"

"बुद्धिजीवियों के माध्यम से लोक-शक्ति जगाकर ही वास्तविक अंकुश लाया जा सकता है। भविष्य की आशा इसी पर आकर टिकती है। अनेक स्थितियों के हाथ से निकल कर अतिवाद में और अराजकता मे चले जाने की प्रक्रिया मे से स्वयं भी कुछ घटित हो सकता है। लेकिन उसके बाद की सुचारू व्यवस्था किसी निःस्वार्थ नेतृत्व द्वारा ही लाई जा सकेगी, क्योंकि उसे ही सुना जायेगा। आज तो सत्ता का अर्थ है : स्वेच्छाचारिता, मनमानी, मर्यादा-हीनता। मैं समय-समय पर इसके विरोध मे आवाज उठाता रहता हूँ। कोई भी राजनीतिक दल महज अपनी सुविधा के लिए संविधान न बदले। ऐसा करना नुकसानदेह होगा। इसीलिए मैंने 'राष्ट्रीय सुरक्षा कानून' (रासुका) को अदालती अधिकार से बाहर ले जाने वाले संशोधन-अधिनियम को दुर्भाग्यपूर्ण कहा था। 'राजनीति में सभी कुछ जायज' और 'सत्ता ही सब कुछ' वाली परिभाषाएँ जब तक बदली नहीं जायेंगी, तब तक कुछ नहीं होगा। राजनीति को सिद्धान्तों और मर्यादाओ का संस्कार देना होगा।

राजनीतिज्ञों को फिर से जनता का विश्वास अर्जित करना होगा। क्षुद्र स्वार्थों की आपाधापी को तिलाजंलि देकर ही राजनेताओं और नौकरशाही के संयुक्त भ्रष्टाचार को निर्मूल किया जा सकता है। सार्वजनिक शील और संसद की गरिमा की रक्षा के लिए सांसदों को मत-वैभिन्य व सैद्धांतिक संघर्ष के बीच भी राष्ट्रीय सहमति और समन्वय का मार्ग प्रशस्त करने के लिए राष्ट्रीय संकल्प लेना होगा।

"संविधान की परिभाषा केवल शाब्दिक नही होती। मानवीय गरिमा की रक्षा उसमें अन्तर्निहित है। अन्तरात्मा बिना, मनुष्यता बिना सविधान को परिभाषित नही किया जा सकता। कानूनी संशोधनों की भी एक सीमा होती है। सशोधन बहुत दूर तक नही ले जा सकते। कई बार तो वास्तव में सशोधन अपेक्षित होते है। लेकिन अधिकाश जल्दबाजी मे किये जाते हैं, जो स्वार्थप्रेरित ही नही, व्यर्थ भी होते है। इसलिये संशोधन के पूर्व सोच-विचार जरूरी है कि उनका अपव्यय व दुरुपयोग रोका जा सके। बहुत से परिवर्तन बिना संशोधन भी लाये जा सकते है। मुख्य बात है, जीवन-शैली बदलें, केवल सविधान बदलने से कुछ नहीं होगा। संवैधानिक अंकुश भी अपने आप मे समर्थ नही। उसके साथ सबल जनमत जरूरी है। समाज का 'पुण्य प्रकोप' सगठित किया जा सके तो उसका अवश्य असर पड़ता है।

"समस्याएं गहराती है, व्यवस्था और यथार्थ के बीच की खाई गहरी होने पर। इस खाई को पाटने के लिये कभी सविधान मे बदलाव जरूरी हो जाता है, कभी जीवन शैली मे, तो कभी दोनों मे साथ-साथ। केवल कानूनी बदलाव जीवन को बाधता है और बाध एक समय बाद टूटता ही है। इसलिये कानूनी बदलाव अपर्याप्त होता है। कानून को लोक-सापेक्ष बनाएंगे, सत्ता पर लोक-शक्ति का अंकुश बढेगा, तभी इससे लोक हितकारी संभावनाएं बढेंगी।"

"लेकिन आपने लोक-शक्ति अंकुश के रूप मे जो 'लोकपाल-लोकायुक्त' का विचार दिया था, उसका कुछ हुआ? फिर लोक-शक्ति के जागरण व संगठन तक समाज की जो क्षति हो रही है...?"

"क्षति बढेगी तो क्षतिपूर्ति के लिए समाधान भी उसमें से ही निकलेगा। अराजकता अभी भी क्या कम है? लेकिन विषमता, असमानता

से गुजरते हुए भी हम समानता की ओर बढ़ रहे हैं; बढ़ेंगे। मुख्य संकट चरित्र-संकट ही है। अतः इस सारी प्रक्रिया में जब शुद्धता, सदाशयता, दिशा सम्पन्नता भर आएगी, कोई असाधारण नेतृत्वशक्ति भी उमी में से प्रगट हो जायेगी। बस मानवता में आस्था खण्डित नहीं होनी चाहिए। अच्छे भविष्य की संभावना इसी में निहित है।"

"आप संयुक्त राष्ट्र संघ के 'मानवीय अधिकार आयोग' मे भी जुड़े हैं, इस नाते मेरी इस जिज्ञासा का भी समाधान कीजिए कि किसी देश में बड़े पैमाने पर जब सामूहिक हिंसा होती है या विजेता देश के सैनिकों द्वारा विजित देश की महिलाओं पर सामूहिक अत्याचार किया जाता है, (बंगला देश के निर्माण से पूर्व पाकिस्तानी सैनिकों ने तो अपने ही देश के एक भाग की स्त्रियों पर उन्मत्त होकर सामूहिक बलात्कार किये)। इस पर अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी संहिता क्या है ? अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे क्या इसके लिये कोई सजा-प्रावधान नहीं है ?"

"अन्तर्राष्ट्रीय कानून हैं। सजा-प्रावधान भी। प्रश्न है कि उन्हें किस तरह लागू किया जाता है। विजेता सैनिकों पर तीन तरह की मर्यादाएं होती हैं—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की मर्यादा, अपने देश की सेना के अनुशासन की मर्यादा और मानवीय या अन्तरात्मा की मर्यादा। दोषी सैनिकों के लिये अपने देश में 'कोर्ट मार्शल' की कड़ी सजा होती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी प्रायः संबंधित देशों के कानून के माध्यम से ही अपना दबाव डालते है। लेकिन सबसे बड़ा दबाव तो अन्तरात्मा का दबाव ही हो सकता है। विचारणीय है कि सैनिकों का मनोबल और नैतिक बल क्यों गिरता है ? युद्ध एक उन्माद है, जिसके आवेग में उन्मत्त व्यक्ति व्यक्ति नहीं रह जाता। उसके भीतर का पशु जाग जाता है। उस समय जब वह अपने देश का ही व्यक्ति नहीं रह पाता, अन्तर्राष्ट्रीय आचार-संहिता या विश्व नागरिकता की बात उसे कैसे याद रहेगी ? लेकिन घूम फिर कर बात वही आती है कि मानवीय संवेदना और जनमत के दबाव बिना केवल कानूनी दबाव कुछ नहीं कर सकता। सुरक्षा कानून के पहले की स्थिति है, कानून हादसे के बाद अपना काम करता है, वह भी अपनी सीमाओं के भीतर। यह मानवीय सच्चाई हर युग में दुहराई गई है, दुहराई जाती रहेगी।"

डा. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी का जन्म जोधपुर में 9 नवम्बर 1931 को

हुआ। जोधपुर मे प्रारम्भिक शिक्षा लेकर उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से स्नातक डिग्री ली। फिर हारवर्ड ला स्कूल से मास्टर ग्राफ ला डिग्री ली! और कारनेल यूनिवर्सिटी ला स्कूल से डाक्टर ग्राफ साइन्स आफ ला डिग्री ली। 1957-58 मे डा. सिंघवी ने 'भारतीय विधि संस्थान' की स्थापना में योग दिया और उसके निदेशक बने। 1962 में वह राजस्थान उच्च न्यायालय में प्रमुख अधिवक्ता रहे। तभी जोधपुर संसदीय चुनाव क्षेत्र मे तीसरी लोक सभा के लिये निर्दलीय सदस्य निर्वाचित हुए। एक सांसद के रूप में उनकी सेवाएं उल्लेखनीय रही: उन्होंने भारत में 'अम्बुद्समान प्रणाली' आन्दोलन का नेतृत्व किया और भारतीय विधायक शब्दावली में प्रथम बार 'लोकायुक्त' और 'लोकपाल' शब्द जोड़े। डा. सिंघवी को शिकायत है कि जनता की शिकायतो का समाधान करने के लिये उनके द्वारा प्रस्तावित लोकपाल-लोकायुक्त संस्थान की स्थापना का विचार अभी तक संसद में धूल-धूसरित हो रहा है। 'दल-बदल' रोकने के लिये हर आश्वासन के बाद भी कोई कानून आज तक नही बन सका है। (इन पंक्तियों के छपते छपते 30 जनवरी को दल-बदल विधेयक पर संसद की मुहर लग गई है) पंचायती राज्य की विशद-विस्तृत योजनाएं भी अनेक बार बनी, किन्तु उस कल्पना को फलीभूत होने नही दिया गया। नगरपालिकाएं भी सरकारी प्रभुत्व का शिकार हैं। अतः आवश्यक है कि स्वायत्त शासन की ग्रामीण और शहरी सभी संस्थाओं को संवैधानिक संरक्षण दिया जाय और राष्ट्रपति की शक्तियों व जिम्मेदारियो को परिभाषित किया जाय।

सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठ अधिवक्ता के रूप में डा. सिंघवी की सेवाओं से सभी परिचित है। लेकिन उनकी गतिविधियां यही तक सीमित नहीं हैं। वह 'संवैधानिक एव ससदीय अध्ययन संस्थान' तथा 'सर्वोच्च न्यायालय अधिवक्ता संघ' के अध्यक्ष हैं। 'संयुक्त राष्ट्रसंघ मानवीय अधिकार आयोग' के विशेषज्ञ सदस्य के नाते अन्तर्राष्ट्रीय विधि-क्षेत्र में भी उन्होंने (विश्व के अल्पसंख्यको व विचाराधीन कैदियो के अधिकारो के पक्ष में तथा रंग-भेद, जाति-भेद के खिलाफ वकालत करके) अच्छी ख्याति अर्जित की है। सितम्बर 1983 में उन्हे राष्ट्रमण्डल कानूनी शिक्षा एसोसिएशन का मानव-संरक्षक चुना गया। अन्तर्राष्ट्रीय कानून-सम्मेलनो में कई बार भारतीय प्रतिनिधि मंडलों के सदस्य व अध्यक्ष के नाते भाग लेकर देश का प्रतिनिधित्व कर चुके है। 'इंटरनेशनल लीगल सेंटर' न्यूयार्क के आठ वर्ष तक ट्रस्टी भी

रहे। भारत सरकार की सूचना व प्रसारण सलाहकार कमेटी में रह चुके हैं। 1959 में कानूनी सहायता पर प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन के अध्यक्ष थे। इस नाते भारत में 'गरीबों को मुफ्त कानूनी सहायता आन्दोलन' के अगुवा रहे। तब से आज तक 'राष्ट्रीय कानूनी सहायता संघ' के अध्यक्ष के नाते जरूरतमन्दों के लिए यह लड़ाई लड़ रहे हैं। भारत सरकार की कानूनी सहायता विशेषज्ञ कमेटी के सदस्य भी रहे, जिसने 1973 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी।

शैक्षणिक, सामाजिक व सांस्कृतिक क्षेत्र मे भी उनकी सेवाएं कम उल्लेखनीय नही। कई कानूनी पुस्तकों-पत्रिकाओं का संपादन करने के साथ उन्होंने अनेकों लेख व कुछ पुस्तकें भी लिखी हैं। कई विश्वविद्यालयों के सिंडिकेट-सीनेट सदस्य और उपकुलपति चुनाव-कमेटियों के सदस्य रहे हैं। अतिथि वक्ता के नाते देश-विदेश के विश्वविद्यालयों मे आमंत्रित किए जाते रहे हैं। कई संस्थाओं-संस्थानों मे स्मारक भाषण मालाएं देते रहे है। बैनेट कोलमेन एण्ड कम्पनी और पंजाब नेशनल बैंक के निदेशक रह चुके हैं। भारतीय परिवार नियोजन संघ के भी संस्थापक ट्रस्टी रहे हैं।

भारत में, 'नव मंच आंदोलन' के अग्रणी कार्यकर्ता-कलाकार के नाते 'दिशान्तर' के संस्थापक अध्यक्ष तो थे ही, 1978-82 में 'नेशनल स्कूल आफ ड्रामा' के अध्यक्ष भी रहे। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री हीरानन्द सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' द्वारा 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' की राशि से स्थापित 'वत्सल निधि' के आजीवन ट्रस्टी हैं। विकलांग कलाकारों के लिए स्थापित 'प्रभा ट्रस्ट' के संस्थापक ट्रस्टी हैं। भारत के अग्रणी साहित्य पुरस्कार के लिए 'ज्ञानपीठ पुरस्कार संस्थान' के भी ट्रस्टी हैं। उन्होंने स्वयं भी अपने पिता श्री की स्मृति में 'दशरथमल सिंघवी स्मारक ट्रस्ट' की स्थापना की है, जिससे प्रतिवर्ष राष्ट्रीय एकता के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान करने वाले कृतित्व को पुरस्कृत किया जाता है।

इनके अलावा भी डा. सिंघवी कई संस्थाओं, ट्रस्टों व पुरस्कार-चयन समितियों से जुड़े हैं, इन संस्थाओं में से 'इंडिया इंटरनेशनल सेंटर' का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। विभिन्न गोष्ठियों, सेमीनारों में उनकी उपस्थिति की आकांक्षा सभी को रहती है, क्योंकि शिक्षा, संस्कृति, साहित्य, समाज-कल्याण, संविधान, कानून कोई भी क्षेत्र उनसे अछूता नही। सभी में

उनका अधिकृत प्रवेश है। फिर भी मानवीय अधिकार की चिन्ता शायद उनकी सबसे बड़ी चिन्ता है। इसीलिए भारत में मानव अधिकार शोध एवं शिक्षण का राष्ट्रीय संस्थान स्थापित करने के बाद अब 'एशिया मानव अधिकार संस्थान' की स्थापना के लिए सक्रिय हैं।

इस तरह, डा. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के कार्यकलापों का क्षेत्र कितना विस्तृत है, उन्होंने ज्ञान व अनुभव की कितनी संपदा अर्जित की है, इसी से उनके विलक्षण व्यक्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। उनकी इस सफल जीवन-साधना का बहुत कुछ श्रेय शायद उनकी जीवनसंगिनी कमला सिंघवी को भी दिया जा सकता है, जो स्वयं एक सुसंस्कृत विदुषी महिला होने के साथ एक कुशल पत्नी व सुघड़ गृहिणी भी हैं। उनका घर एक सुन्दर कला-संग्रहालय जैसा है और उनका दाम्पत्य अनेकों के लिए अनुकरणीय। इस बात से इस पुरानी धारणा की भी पुष्टि होती है कि हर महान व्यक्ति के पीछे एक स्त्री होती है। कमला जी तो पीछे ही नहीं, साथ भी हैं। इस दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि डा. सिंघवी उन सौभाग्यशाली व्यक्तियों में से एक हैं, जिन्हें जीवन में एक साथ इतना कुछ मिला, शायद तभी वह एक साथ इतनी उपलब्धियों के हकदार बन सके। फिर भी व्यक्ति की अपनी जीवन-साधना सर्वोपरि है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता।



राष्ट्रसेवी महान वैज्ञानिक

डा० आत्माराम



6 फरवरी, 1983। एक दुखद समाचार—सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डा. आत्माराम नहीं रहे। इसके कुछ दिन बाद का एक और समाचार—जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में छात्रों की हड़ताल।

इन दोनो समाचारों में कोई संगति न हो, एक न भुलाया जाने वाला, संस्मरण मेरी यादों में आकर इन्हें जोड़ गया है।

डा. आत्माराम, जो भारत के महान वैज्ञानिक भी थे, एक चिंतक, एक संत भी,' से मेरी भेंट कई प्रसगो मे हुई थी। लेकिन कुछ वर्ष पूर्व 'कादम्बिनी' के लिए लिये गए साक्षात्कार के दौरान उनसे हुई बातचीत मुझे भुलाए नही भूलती। किसी राष्ट्रीय प्रसग मे जब उन्होने कहा था, हमारे देश की कोई 'राष्ट्रीय विज्ञान नीति' नहीं है। होती, तो न देश की वैज्ञानिक प्रतिभाएं देश के बाहर जातीं और न हमारे हजारों-हजार गांव विज्ञान तकनीक के लाभ से वंचित रहते। मेरे मुंह से अचानक निकला, "हमारे देश की 'राष्ट्रीय सांस्कृतिक नीति' भी नहीं है। यदि देश की आजादी के साथ ऐसी कोई नीति घोषित होती और उसे गणतंत्रीय संविधान लागू करने के साथ ही लागू किया जाता तो आज हमारा यह राष्ट्रीय चरित्र न होता।" डा. आत्माराम बोले, "आप 'राष्ट्रीय सांस्कृतिक नीति' तय करवाने के लिए कुछ करें न करें, मैं 'राष्ट्रीय विज्ञान व प्रौद्योगिकी नीति' तय करवाने के लिए अवश्य कुछ करूंगा।"

सचमुच यही हुआ। मैं अपने लेखन में केवल 'राष्ट्रीय सांस्कृतिक नीति' के अभाव का रोना रोती रही, कुछ समय बाद सुना, 'साइन्स कांग्रेस' के बनारस अधिवेशन में डा. आत्माराम ने यह बात उठाई थी और 'साइंस कांग्रेस' के तिरुपति अधिवेशन मे प्रधानमंत्री ने 'राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी नीति' की घोषणा कर दी थी। इस नीति का मसविदा कुछ हेरफेर के साथ बुनियादी तौर पर वही था, जो पिछली जनता सरकार में 'नेशनल कमेटी आन साइंस एंड टेकनालोजी' के अध्यक्ष पद पर रहते डा. आत्माराम ने स्वयं बनाया था। यही नहीं, डा. आत्माराम के सुझाव पर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय में 'राष्ट्रीय विज्ञान नीति' के नाम से एक शोध विषय भी सम्मिलित कर लिया गया था।

इसे सूझ कहूं या संयोग, मेरे सुपुत्र डा. शशिभारत व्होरा ने अपनी पी एच डी के लिए यही विषय चुना। आज वह 'राष्ट्रीय विज्ञान नीति' विषय में डाक्टरेट की उपाधि पाने वाले भारत के पहले (और अभी तक अकेले) व्यक्ति हैं। जिस विषय पर शोध-अध्ययन के लिए कोई विशेष सामग्री उपलब्ध न हो, उस पर शोध-कार्य, वह भी भैषज्य विज्ञानी के नाते निजी क्षेत्र के एक सस्थान में कार्यरत रहते हुए, कोई आसान कार्य नही। फिर अपनी 'थीसिस' पूरी करके दे देने के बाद जिस तरह जे. एन. यू. में हड़तालों और जांच-पड़तालों का सिलसिला चला, उनकी 'थीसिस' का दो साल तक कहीं अतापता नहीं मिला, फिर 'राष्ट्रीय विज्ञान नीति' वाला वह नया शोध विभाग ही बंद कर दिया गया, यह अपने आप में एक अलग दुःखद कहानी है। इस सिलसिले में शोधकर्ता डा. शशिभारत व्होरा ने जो झेला, उसकी बात छोड़ दें, तो भी अनुमान लगाना कठिन नहीं कि इस विषय पर आगे शोध-अध्ययन बद कर देने से डा. आत्माराम को कितना दुख हुआ होगा। खैर, 'राष्ट्रीय विज्ञान नीति' के अन्तर्गत विज्ञान की एक शाखा को लेकर लिखी गई वह थीसिस आखिर पर्दे के बाहर आई और उस पर डाक्टरेट की डिग्री भी प्रदान की गई। पर डा० आत्माराम के सुझाए इस विषय के 'भारत के प्रथम डाक्टर' को उनका आशीर्वाद दिलाने जब मैं उनके पास ले जाने वाली थी, तभी उनके निधन का दुःखद समाचार मिला और वह शोधग्रन्थ भी उनके अंतिम आशीर्वाद से वंचित रह गया।

अब मेरी यादों मे डा. आत्माराम, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय

राष्ट्रीय विज्ञान नीति, इस विषय पर शोध-अध्ययन का आरंभ और अंत ये सारी बातें एक साथ मिल कर हड़कंप मचा रही हैं। यह मात्र एक संस्मरण नहीं, एक राष्ट्रीय प्रश्न है और राष्ट्र के सामने एक प्रश्न चिन्ह भी है।

इस न भुलाए जा सकने वाले संस्मरण के बाद अब मैं आती हूँ उन प्रश्नो पर, जिन पर लिये गये डा. आत्माराम के उत्तर आज भी हमें झकझोर जाते हैं।

'हम अपने बच्चों को जो विज्ञान पढा रहे हैं, उस पर आपकी प्रतिक्रिया क्या है ?' इस प्रश्न पर उनका उत्तर था, 'आज की शिक्षा की सबसे बड़ी कमी यह है कि मां-बाप खुद पढे लिखे हैं तो अपने बच्चों को खुद पढा लें, नहीं तो मंहगी ट्यूशन लगाएं। मैं तो देहात का आदमी हूँ। अगर इस तरह मां-बाप के पढ़ाने या ट्यूशन पर निर्भर करता तो पढ़ ही न पाता। हमने केवल विज्ञान की मोटी मोटी किताबें लगा रखी हैं और उनमे दुनिया भर की चीजें भर रखी हैं, जिनका अपने देश से बहुत कम वास्ता होता है। प्रथम तो अंग्रेजी माध्यम ही बच्चो पर अन्याय है। वे विज्ञान नही सीखते 'स्पैलिंग' रटते रहते हैं। भारी भरकम वैज्ञानिक शब्दावली से उनकी किताबें अटी पड़ी है। बच्चा किसी चीज का 'स्पैलिंग' गलत लिख दे तो मैडम उस पर जीरो लगा देगी, क्योंकि अक्सर जांच विज्ञान की नहीं, भाषा की होती है। किताबों में प्रूफ की भी भयंकर भूलें हैं। मैंने देखा, भौतिक की एक किताब में लिखा है, 5 ग्राम कांच 1 घन सेन्टीमीटर जगह घेरता है, जबकि होना चाहिए था, 25 ग्राम। यह केवल एक उदाहरण है। ऐसी प्रूफ गलतियों और तथ्य गलतियों से किताबें भरी पड़ी है और किताबों से बच्चो का बस्ता भरा पड़ा है।' फिर कुछ रुक कर उन्होंने कहा, 'आप जानती हैं, एक टन कागज के लिये 50 टन लकड़ी खपती है, और कागज का संकट है। फिर भी प्रकाशकों, पुस्तक विक्रेताओ, और शिक्षा अधिकारियों की मिलीभगत से देश की सम्पदा का इस तरह शोषण हो रहा है कि बच्चों पर बोझ बढ़ता रहे और मां-बाप की जेब हल्की होती रहे, अन्यथा चौथी कक्षा की विज्ञान पुस्तक की कीमत 25 रुपये रखने में क्या तुक है ?

'और गणित पढ़ाए जाने पर आपकी राय ?'

इस प्रश्न पर भी उन्होने तत्काल लगभग वैसी ही तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की, 'बिल्कुल बकवास। बच्चों से पूछिए, 51 या 21 या 11 का आधा क्या होगा, वे देर तक हिसाब लगाने बैठ जाएंगे, उन्हे पहाड़े याद नही कराए जाते। दशमलव तक का उन्हें ज्ञान नही। अमेरिका ने 'न्यू मैथ' का सिलसिला इसलिए शुरु किया था कि वहां हर जगह कम्प्यूटर प्रणाली चल पड़ी थी। कुछ साल तक आजमा कर अमेरिकियो ने यह 'नया गणित' छोड़ दिया। पर हम हैं कि उसी के पीछे पड़े हैं। जब हम अपने बच्चों को 'कैलकुलेटर' नहीं दे सकते तो उन्हें 'न्यू मैथ' किस लिए पढा रहे है? जिन्हे कम्प्यूटर पर काम करने की जरूरत पडेगी, वे उनकी भाषा स्वय ही सीख लेंगे। आम बच्चे को तो आम गणित ही जानना जरूरी है।'

'देश की प्रगति मे विज्ञान के योगदान' पर वह क्या सोचते है? इस पर उनके व्यथा से भरे भरे मन से जो कुछ निकला, उसका सार है, "संसार 'अंतरिक्ष युग' में प्रवेश कर गया है, 'समुद्र-दोहन' के युग मे भी जा पहुँचा है। अच्छा है। हम सबके लिए गौरव की बात है। पर जन साधारण तो यह जानना चाहता है, 'हम 'रोटी-पानी' के युग में कब पहुँचेंगे? गाधी जी भी कहा करते थे, भूखे को तो भगवान भी रोटी मे ही दिखाई देता है। हमारे हजारों गावो में पीने का पानी नही है। हम अभी भी गरीबी की रेखा से चिपके है। आपका विज्ञान हमे इससे छुटकारा कब दिलायेगा? हमारे देश में वैज्ञानिक व औद्योगिक प्रगति का पहला लक्ष्य क्या यही नही होना चाहिए?

"इसके लिए हमें अपने यहां के वैज्ञानिको से जो भी मदद मिले, वह लें। साथ ही बाहर की तकनालाजी के लिए भी अपनी खिडकियां खुली रखें। हम सारी तकनालाजी यही तैयार कर लेंगे या जब तक देशी तकनीकें तैयार नही हो जाती, तब तक इन्तजार करेंगे, ऐसे व्यर्थ के भ्रम न पाले जाएं। विज्ञान के प्रयोगो के हल इतने जल्दी नही निकला करते कि आज समस्या दी और कल पूछना शुरू कर दिया कि 'भई कुछ निकला?' यह तो वैसी ही बात हुई कि आज बीज बोया और कल फल ले लो। ऐसा नहीं होता। सालों साल परिश्रम करना होता है तब कोई नयी वैज्ञानिक खोज हो पाती है। फिर सालों तक लगातार कोशिश के बाद उस वैज्ञानिक खोज से समाज के लिए कोई उपयोगी तरीका, उपकरण या यंत्र निकलता है। हमारे

यहां यह भ्रम पैदा कर दिया गया कि बस प्रयोगशालाएं बनने की देर है, हर समस्या हम यहीं सुलझा लेंगे। हर तरह की टेक्नोलॉजी यहीं विकसित कर लेंगे। 'भ्रम' शब्द मैंने इसलिए कहा कि यह बात वैज्ञानिक तरीके से एक दम खिलाफ है। पहले से कैसे कहा जा सकता है कि किसी विषय पर अनुसंधान से हम वांछित परिणामों पर पहुंचे। और वह भी जल्दी पहुंचे। हवाई पुल बांधने से बात नहीं बनती। यही कारण है कि शुरू में विज्ञानशालाओं के उद्घाटन के अवसरों पर नेताओं के भाषणों में बांधे गये हवाई पुलों का अब कहीं नामोनिशान नहीं मिलता।

"सरकार का भी इसमें कोई दोष नहीं। कोई भी सरकार रही, विज्ञान को उसका बराबर समर्थन मिला और आर्थिक अड़चनों के बावजूद विज्ञान के बजट में कोई कटौती नहीं की गई। पर अमेरिका जैसा उन्नत देश भी जब विदेशों से टेक्नोलॉजी लेने में हर वर्ष लगभग 30-40 करोड़ डालर खर्च करता है, हम कुल 600 करोड़ रुपया खर्च करके ही यह शिकायत करने लगते हैं कि टेक्नोलॉजी बाहर से क्यों मंगानी पड़ रही है? हमारी प्रयोगशालाएं किस लिये हैं? आज कौन बाहर से टेक्नोलॉजी नहीं ले रहा? रूस, चीन, जैसे देश भी लेते हैं। उत्तर-दक्षिण, दायें-बायें बाहर से, भीतर से, जहां से भी बेहतर टेक्नोलॉजी मिले, लेना चाहिए। जरूरत है, अपने देश के आम आदमी के जीवन-स्तर को ऊपर उठाने में उसका उपयोग करने की।

"हमारे यहां वैज्ञानिक प्रतिभाओं की कमी नहीं। कितने लोग बाहर चले गये। दूसरे देशों ने हमारी प्रतिभाओं का उपयोग कर लिया। फिर भी प्रतिभा की दृष्टि से हमारा देश पर्याप्त उपजाऊ है। हमारे नौजवान वैज्ञानिकों में देश के प्रति निष्ठा का भी अभाव नहीं। सवाल है, कोई उनके सामने सही लक्ष्य तो रखे। उन्हें काम करने का पूरा अवसर तो मिले। हम मैक्सिको से बौने गेहूं का बीज लाये। उसे यहां उगाने के तरीके खोजे। फिर आगे बीज में सुधार किये। आज हमारे कृषि वैज्ञानिकों ने इस देश को अनाज में आत्मनिर्भर बना दिया है। यह केवल एक उदाहरण है। अन्य क्षेत्रों में भी ऐसे तरीके अपनाये जाने चाहिए। यानी जहां से जो मिले, लें, हर प्रतिभा का उपयोग करें और इस सब से आम आदमी का जीवन ऊपर उठायें।"

रक्षा-तैयारियों में विज्ञान के प्रयोग पर उनकी राय जानने के लिये मेरी जिज्ञासा के समाधान में डा. आत्माराम ने एक सस्मरण सुनाया, "देश की उत्तर-पूर्व सीमा पर चीन के आक्रमण के बाद विज्ञान भवन मे एक बड़ी मीटिंग हुई थी, जिसमे देश के बड़े वैज्ञानिक, नेता, अधिकारी और सेना के जनरल भाग ले रहे थे। प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरु ने मीटिंग को सम्बोधित किया था। लेकिन मुझे याद है कि नेहरु जी के विज्ञान संबधी प्रारंभिक भाषणो (जब वे विज्ञान के बूते पर देश को आगे बढाने की बात बड़े जोशोखरोश से करते थे) वाला जोश उस समय उनमें देखने को नही मिला। देश की रक्षा-तैयारियो की तत्कालीन दशा देख कर उनमें निराशा और खीझ भर आई थी। उस मीटिंग में मुख्य चर्चा यह होनी थी कि वैज्ञानिक अनुसंधानो से देश के सुरक्षा-प्रयासों को क्या बल मिल सकता है? और इसके लिए हमारी प्रयोगशालाओ को कैसे अधिक सक्षम और समर्थ बनाया जाय? लेकिन ऐसे गंभीर वातावरण में किसी वक्ता की कही गई यह बात कि सन् 1930 के बाद हमें एक भी 'नोबल पुरस्कार' नहीं मिला, मुझे चुभ गई थी। मैंने कहा, 'क्या कुछ और नोबल पुरस्कार मिल जाते तो हमें चीनियों को अपनी भूमि से बाहर खदेड़ने में उनसे बल मिलता? अगर हमारे वैज्ञानिक नोबल पुरस्कार की आशा में ही काम करेंगे तो फिर यह आशा छोड़ दें कि विज्ञान से वे अपने देश की कोई समस्या हल कर पायेंगे।' बात तीखी थी। कुछ लोगों को बुरा लगा, कुछ मुस्कुराए, लेकिन कुछ बड़े वैज्ञानिकों ने मेरी पीठ थपथपाई। अत: प्रश्न फिर घूम फिर कर वही आती है कि विज्ञान का प्रयोग हम किस लिए या किस दिशा मे करना चाहते हैं? कृषि, उद्योग, तकनालाजी के विकास द्वारा आम आदमी का जीवन-स्तर उठाने के लिए और रक्षा-प्रयासों में सहायता के लिए या.......?"

आगे की तीखी बात वे अपने होठों मे ही दबा गये, क्योकि विज्ञान जैसे विषय को भी राजनीति का शिकार होते देखकर उन्हे जो गहरी पीड़ा हो रही थी, उसे व्यक्त कर पाना उस समय शायद उनके लिए संभव नहीं था।

12 अक्तूबर, 1908 को उत्तर प्रदेश, जिला बिजनौर के पिलाना गांव में एक पटवारी के घर जन्मे आत्माराम पढ़ाई-लिखाई में शुरू से ही आगे रहे। हमेशा अव्वल रहने पर मिलने वाली छात्रवृत्ति की राशि घर

भेजते रहते कि उन्हें पढ़ाई के लिए बनारस व इलाहाबाद भेजने के लिए गरीब पिता ने जो कर्ज लिया, वह उतारा जा सके और छोटे भाई पढ़ सकें। स्वयं ट्यूशनें करके अपनी पढ़ाई का खर्च चलाते। त्याग और मितव्ययता की यही आदत शायद आगे चल कर उन्हें गांधीवादी वैज्ञानिक बनाने में सहायक सिद्ध हुई। कानपुर से बी. एससी. करने के बाद उन्होंने इलाहाबाद से एम. एससी और डाक्टरेट की डिग्री ली। तभी डा. मेघनाद साहा के संपर्क में आए और कलकत्ता की एक छोटी-सी लेबोरेटरी में तकनीकी सहायक की नौकरी पा, सी. एम. आई. आर. के जन्म के साथ ही उससे जुड़ गए। उनकी प्रतिभा छुपी नहीं रह सकी। इस मामूली से तकनीकी सहायक की कर्मठता से राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं के जन्मदाता श्री शांति स्वरूप भटनागर इतने प्रभावित हुए कि जब भारत की पहली चार प्रयोगशालाएं बनीं तो कलकत्ता में कांच व तामचीनी की केन्द्रीय प्रयोगशाला स्थापित करने का काम उन्होंने डा. आत्माराम को ही सौंपा।

पूरे देश में कांच और तामचीनी उद्योगों का दौरा करके उन्होंने पाया कि देशी बोतलों की किस्म अच्छी न होने से ही 'अच्छी बोतलें' बाहर से आयात की जाती हैं। अपने अनुसंधान से यह दोष सुधार कर उन्होंने देश में ही अच्छी बोतलों के निर्माण का मार्ग खोल दिया। इसके बाद तांबे के 'आक्साइड' से 'सेलीनियम' का विकल्प खोज कर उन्होंने फिरोजाबाद के चूड़ी उद्योग की समस्या हल की। पर देश को डा. आत्माराम की उपयोगी देन है : चश्मों, सूक्ष्मदर्शी यंत्रों, दूरबीनों आदि के लिए 'आप्टीकल ग्लास'। यह शुद्ध कांच बना कर उन्होंने भारत को संसार के अग्रिम देशों की पंक्ति में खड़ा कर दिया। 1952 से 1966 तक वह 'सेंट्रल ग्लास एंड सिरेमिक रिसर्च इंस्टीच्यूट' के निदेशक रहे, फिर तत्कालीन शिक्षामंत्री श्री छागला उनके काम से प्रसन्न हो उन्हें महानिदेशक बना कर दिल्ली ले आए। पहुंच के ऊपर प्रतिभा की इस पूछ से कइयों को बुरा लगा, पर सर सी. वी. रामन के शब्दों में, 'उन्हें ही, जो प्रयोगशालाओं का उपयोग विज्ञान को दफनाने के लिए ताजमहल बनाने में लगे थे, विज्ञान के प्रयोगों को सीधे उद्योगों से जोड़कर लोगों का जीवन-स्तर उठाने में जिन्हें कोई रुचि न थी।' ब्रिटेन के प्रसिद्ध वैज्ञानिक लार्ड ब्लैकट ने तो उनकी प्रशंसा में यहां तक कहा, 'काश ब्रिटेन में हमारे पास भी एक आत्माराम होता।'

इसके बाद तो इस गांधी टोपी धारी सीधे सादे देहाती वैज्ञानिक पर विदेशो से सम्मानो की वर्षा होने लगी। भारत में राष्ट्रीय पुरस्कार के अलावा, उन्हें एक लाख रुपए के पहले 'अणुव्रत पुरस्कार' से भी सम्मानित किया गया, जो उन्होंने वहीं मंच पर आचार्य तुलसी को जनसेवा के लिए अर्पित कर दिया।

देश के गौरव डा. आतमाराम भारत के प्रमुखतम वैज्ञानिकों मे से एक थे। उनकी गणना विश्व के अग्रणी कांच-प्रौद्योगिकी विशेषज्ञों मे की जाती है। वैज्ञानिक व औद्योगिक अनुसंधान परिषद के महानिदेशक और भारत सरकार के सचिव पद से अवकाश ग्रहण करने के बाद भी उन्होंने कई महत्वपूर्ण पदों पर कार्य किया। वह 'राष्ट्रीय विज्ञान व प्रौद्योगिकी समिति' के अध्यक्ष और 'परमाणु ऊर्जा उपयोग' के सदस्य रहे।

एक महान वैज्ञानिक के साथ महान चिंतक के रूप में भी उन्होंने राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। ऐसे चिंतक, जो भारतीय दर्शन और आध्यात्मिकता से ओतप्रोत थे। विज्ञान और आध्यात्मिकता के समन्वय की बात करते हुए विज्ञान को मानवता के हित में प्रवृत्त करने के लिए चिंतनशील रहने के कारण ही उन्हे एक 'वैज्ञानिक संत' भी कहा जाता था। यद्यपि उनकी प्रमुख खोज 'आप्टीकल ग्लास' का मानवीय आचरण से कोई सीधा संबंध नही, लेकिन मानवता के हित में विज्ञान व प्रौद्योगिकी के उपयोग की उनकी चिंता और व्यावहारिक देन ने उन्हें एक महान राष्ट्रसेवी वैज्ञानिक के रूप मे मान्यता प्रदान की। बच्चों के लिए हिन्दी की विज्ञान पुस्तकें लिखवाने और हिन्दी के विज्ञान लेखको का संगठन बनवाने में भी उन्होंने पहल की।

उनके इस चिंतन और उनकी व्यक्तित्व-साधना का ही परिणाम था कि मृत्यु के एक दिन पहले तक वह पूरे चैतन्य थे। मृत्यु के बाद भी उनके चेहरे पर एक सस्मित शांति थी, यद्यपि अंत तक उन्हे यह बात सालती रही कि विज्ञान के लिए न तो वह कोई राष्ट्रीय अकादमी बना सके, न राष्ट्रीय विज्ञान नीति को ही सही ढंग से लागू करवा सके।

□

एक संत-वैज्ञानिक

सुन्दरलाल बहुगुणा



"ऐसे व्यक्तियों का सम्मान राष्ट्रपति भवन में नहीं, किसी बड़े सार्वजनिक-स्थल पर आमजनता के बीच होना चाहिए कि लोग देखें, सुनें और प्रेरणा लें। यह प्रेरणा कि देश में ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो पर्यावरण की रक्षा जैसे जनहित-कार्य ही नहीं चलाते, वनों की कटाई रुकवाने के लिए पेड़ों से चिपक कर अपनी जान तक देने के लिए तैयार हो जाते हैं। 'दूसरी ओर ऐसे लोग भी हमारे देश में हैं, जो सड़क पर हिंसा की शिकार हो, मरती हुई मानव-देहों को बचाने के लिए उनके साथ भी नहीं चिपकते। कई तो जाकर बेगुनाहों तक को कत्ल कर आते हैं। हो सकता है, सुन्दरलाल बहुगुणा जैसे व्यक्तियों को देखकर उन भटके हुए लोगों की आँखें खुलें? इसीलिए इन्हें लोगों के सामने खुले मंच पर अवश्य लाया जाना चाहिए। मैं ऐसे देवता-स्वरूप व्यक्ति को प्रणाम करता हूँ। ये शब्द हैं, महामहिम राष्ट्रपति श्री जैलसिंह के, जो उन्होंने 10 मार्च को राष्ट्रपति भवन में 'चिपको आन्दोलन' के प्रणेता श्री सुन्दरलाल बहुगुणा को 'सिंघवी स्मारक राष्ट्रीय एकता पुरस्कार' प्रदान करते हुए उनकी प्रशस्ति में कहे।

सन् 1983-84 के लिए श्री सुन्दरलाल बहुगुणा के नाम का चयन राष्ट्र-जीवन में, राष्ट्रीय-एकता के लिए पर्यावरण की महत्ता को रेखांकित करता है। बहुगुणाजी ने गांधीवादी कार्यकर्त्ता की हैसियत से अपनी रचनात्मक भूमिका को एक नया आयाम दिया है। वह भारतीय जीवन की जड़ों से सहज अन्तरंग रूप से जुड़े हुए हैं। उन्होंने वृक्षों और वन-सम्पदा की रक्षा के

लिए देश भर में लोक-चेतना जगाई है और अपनी अथक, कर्म-निष्ठा से उस अभियान को संवेदनशील व विवेकपूर्ण मार्गदर्शन दिया है।

पर्यावरण-सुरक्षा के क्षेत्र में श्री बहुगुणा का जीवन-दर्शन एवं चिपको अभियान राष्ट्र के निमित्त समर्पित साधना को एक वैज्ञानिक-सांस्कृतिक मिश्रित स्वरूप प्रदान करता है। एक ओर उन्होंने अभियान को भारतीय जीवन-दर्शन, अध्यात्म और अरण्य-संस्कृति के साथ जोड़ा है, दूसरी ओर देश के जनसाधारण की प्रतिदिन की बुनियादी जरूरतों के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित किया है। किसी भौतिक कार्यक्रम को विचार और संस्कार के साथ जोड़कर प्रस्तुत करना ही तो भारतीय ऋषि-परम्परा रही है। इस दृष्टि से सादा जीवन, उच्च विचार रखने वाले श्री बहुगुणा, गांधीवादी नवोन्मेष के एक सविनय सत्याग्रही सैनिक, समाज-शिल्पी और अभियंता ही नहीं, आधुनिक ऋषि भी हैं। सन्त + वैज्ञानिक ही तो आधुनिक ऋषि की सही परिभाषा हो सकती है।

भागीरथी नदी के तट पर टिहरी गढ़वाल के एक पर्वतीय ग्राम में 1927 में जन्मे श्री सुन्दरलाल बहुगुणा ने तेरह वर्ष की आयु में ही भारत की आजादी का सपना देखा और सत्रह वर्ष की आयु मे जेल गये। उत्तरकाशी, टिहरी और लाहौर में शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने श्री देवसुमन से सार्वजनिक सेवा की प्रेरणा ली। ठक्कर बापा ने उन्हें दरिद्रनारायण की सेवा में दीक्षित किया। दादा धर्माधिकारी से उन्हें मार्ग-दर्शन मिला और गांधीजी की शिष्याओं—मीराबेन, सरलाबेन से ग्राम-सेवा का संकल्प। सन्त विनोबा भावे से आदेश पाकर बहुगुणाजी ने सुदूर पर्वतीय अंचलों की कई पद-यात्राएं की। शराबबन्दी और हरिजन-शिक्षा-सेवा के कई आन्दोलन चलाए और रचनात्मक कार्य के लिए अपना पूरा जीवन होम दिया।

समाज सेविका सुश्री विमला नौटियाल से विवाह के बाद इस दम्पत्ति ने टिहरी गढ़वाल के सिलयारा गांव में अपनी गृहस्थी जमायी और आसपास के क्षेत्र में सेवा-कार्य के लिए 'नवजीवन आश्रम' स्थापित किया। 1972 से वन-सम्पदा के बचाव के लिए उन्होने यह अभियान आरम्भ किया। पर्यावरण की रक्षा के लिए अलख जगाने के साथ, धीरे-धीरे वह 'चिपको आन्दोलन' के साथ इतने चिपक गये कि आज सुन्दरलाल बहुगुणा और चिपको आंदोलन मानो पर्यायवाची शब्द हैं।

वृक्षों की रक्षा के लिए उन्होंने उपवास किए। जिन लोगों की रोजी-रोटी वन-सम्पदा से जुड़ी है, उन्हें आन्दोलन के लिए तैयार किया। पत्रकार और लेखक के नाते आन्दोलन को मुखर अभिव्यक्ति दी। देखते-देखते एक लहर उठी और देशवासी, विदेशी वैज्ञानिक तक, इस सीधे-सादे, किन्तु प्रबुद्ध, कर्मठ व्यक्ति की ओर आकर्षित हुए। आन्दोलन-क्षेत्रों में तो उनकी प्रेरणा से सीधी सादी घरेलू वनवासी स्त्रियों की एक पूरी फौज ही तैयार हो गई।

इस एकता पुरस्कार के लिए उनके नाम का चुनाव होने पर जब मैंने उन्हें बधाई-पत्र भेजा तो उनका उत्तर आया, यह आन्दोलन तो मुख्यतः महिलाएं ही चला रही हैं। आप अपनी कलम से इसे गति दीजिए। यही आपका आशीर्वाद मुझे चाहिए। ... इसके पूर्व सरलाबेन पर सामग्री जुटाने के लिए भी जब-जब मेरा उनसे पत्र-व्यवहार हुआ, उन्होंने तुरन्त जानकारियां ही नहीं भेजीं, अपनत्व भी दिया। राष्ट्रपति भवन में उनके अभिनन्दन-समारोह में उनसे भेंट के समय भी उनके शब्द थे, हमारे बीच पहले पत्र व्यवहार हो चुका है, इससे ही नहीं, मैं आपको वर्षों से जानता हूँ, पढ़ता हूँ।" बात छोटी हो, लेकिन व्यक्ति की महानता इन छोटे-छोटे आचरणों से ही सिद्ध होती है।

सुन्दरलालजी के अनुसार, 'श्रीवात्स्यायन अज्ञेय के शब्दों, मानव जाति की समस्याओं का समाधान, राजनीति नहीं, 'इकालाजी' कर सकती है' ने मुझे उस समय उबार लिया, जबकि मुझे चिपको आन्दोलन के कारण विज्ञान का, विकास का और लोकतंत्र का दुश्मन करार दिया जा रहा था। मेरा अपराध यही था कि मैंने नारा दिया था, क्या हैं जंगल के उपकार ? मिट्टी, पानी और बयार। जीने के ये ही आधार। यह नारा सुनने में जितना मधुर और तर्क-संगत लगता है, अमल में लाने पर हमें उतने ही कड़वे अनुभव हुए। मेरे पास इस काम के लिए न सत्ता है, न संगठन, न सम्पत्ति, न साधन, न विद्या, न बुद्धि-चातुर्य। है तो केवल धरती माता के घावों की वेदना से भरा दुःखी हृदय, जो मुझे चैन से नहीं बैठने देता। और है, बोझ ढोने के लिए अपनी मजबूत पीठ तथा पैदल चलने के लिए तेजी की अभ्यस्त टांगें। अपने इन्हीं अकिंचन साधनों को लेकर जन-जन तक पहुँचने वाला एक संदेश-वाहक बन गया मैं। आज भी हूँ। इस कठिन यात्रा के लिए मेरा संबल है,

मेरी धर्मपत्नी विमला और उसके द्वारा तैयार की गई अनेकानेक वनवासी महिलाए, जिन्होने इस कार्य के लिए पुरुषों से अधिक दृढता दिखाई है।'

विकास का अर्थ भोगवादी सभ्यता समझने वाले प्रवक्ता ही अब जब 'विनाश रहित विकास' की भाषा बोलने लगे हैं और पर्यावरण पर बड़े राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन, सम्मेलन आयोजित किये जा रहे हैं, इस कार्य को जन-जन की जरूरतो से जोड़कर एक जीवन दर्शन के रूप में फैलाने वाले श्री सुन्दरलाल बहुगुणा भी एकाएक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति हो उठे हैं, (बी. बी. सी. ने अनके चिपको आन्दोलन पर एक फिल्म भी बनाई है) लेकिन वैसे ही अपरिग्रही और अकिंचन बने रहकर। आज के युग में यह एक बड़ी उपलब्धी ही मानी जाएगी। इसलिए भी कि जब तक सरकार की ओर से इस दिशा में कारगर कदम नहीं उठाये जाते, उन्होंने सरकारी अलंकरण 'पद्मश्री' लेने से विनम्रतापूर्वक इन्कार कर दिया था। उनका आन्दोलन पर्यावरण शुद्धि के अलावा, बेरोजगार पहाड़ी युवको को अपने गाव छोड़, शहरो की ओर भागने से रोकने व अपनी जमीन पर रहकर जीने लायक बनाने के लिये आशा का एक नया सदेश भी लेकर आया है।



खुली आंखों देखा सपना बंद आंखों साकार करने वाले

बैजनाथप्रसाद दुबे

मध्यप्रदेश की राजधानी भोपाल। श्यामला हिल्स पर सरकारी कार्यालयों, आकाशवाणी भोपाल और पोलीटेकनीक के समीप ही एक बडे से अहाते में एक मध्यम आकार का भव्य भवन दिखाई देगा। बाहर साइन बोर्ड है: 'हिन्दी भवन' भोपाल, 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' मध्यप्रदेश, और 'मोती लाल नेहरू पुस्तकालय'। गेट के भीतर एक नजर घुमाने से ही पता चल जाएगा कि 'हिन्दी भवन' की इस योजना का काफी बड़ा हिस्सा अभी अधूरा पड़ा है। जो मुख्य भवन तैयार है, उसके निचले भाग में पुस्तकालय और वाचनालय है। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की ओर से प्रौढ़ महिलाओं की कक्षाए व कुछ कला-कक्षाएं चलती हैं। पहली मंजिल पर साहित्यकारों के ठहरने के लिए अतिथि-निवास है और दूसरी मंजिल पर मन्त्री-संचालक का कार्यालय और निवास। इस भवन के पिछले भाग में खाली जमीन पर कर्मचारियों के अस्थायी कुटीर ही अभी बना लिये गए हैं। शेष योजनाएं फिलहाल एक जोड़ी बंद आंखों के भीतर कुलबुलाती रहती हैं। उनमें देर लगे, पर लगता है, जिस निष्ठा और लगन के साथ अदम्य साहस मिला कर ये शुरू की गई थीं, उसे देखते हुए वे पूरी होंगी अवश्य।

राजधानी दिल्ली में इतने साधनों और साहित्यकारों की उपस्थिति के बावजूद, देश भर से साहित्यकारों की दिल्ली आवाजाही के बावजूद, 'हिन्दी भवन' का नक्शा अभी तक कागजों पर ही अंकित है। दादा बनारसीदास चतुर्वेदी के वृद्धावस्था के कारण शिथिल हो जाने से उनके द्वारा प्रारंभ

किए गए प्रयत्न अब अतीत की बात हो गए हैं। इधर शायद ही किसी संस्था या नेता या कार्यकर्ता ने फिर इस ओर ध्यान दिया हो। पर भोपाल जैसी जगह में एक अकेला नेत्रहीन व्यक्ति इस क्षेत्र में दिल्ली से बाजी मार ले गया।

कौन है यह व्यक्ति ? कैसा होगा यह व्यक्तित्व ? आँखें खो देने के बाद भी कैसे साकार किया होगा उसने अपने इस सपने को ? जिज्ञासा स्वाभाविक है। इसीलिए यह रेखा-चित्र भी यहाँ आवश्यक है।

श्री बैजनाथ प्रसाद दुबे। नाम जितना बड़ा, पृष्ठभूमि व साधनों की दृष्टि से व्यक्ति उतना छोटा। हां, आज पैसा और साधन ही सब कुछ है, उस हिसाब से छोटा ही, वर्ना तो वह बहुत बड़ा है। उसके हौसले बहुत बुलंद हैं। चुटीली, मार्मिक परिस्थितियों के थपेड़े झेलता हुआ भी अपनी अडिगता मे वह चट्टान जैसा दृढ है। उसकी आखें मुद चुकी हैं हमेशा के लिए, फिर भी वह खूब देखता है, सारी दुनिया जहान से परिचित है और उसमे चलना ही नही, उसे चलाना भी जानता है। खुली आंखो देखे उसके सपने बंद आंखो में समाकर भी सिकुड़े नही, उन्होंने विस्तार पाया है और वे साकार हुए है; हो रहे है।

श्री दुबे को मैं महू (मध्यप्रदेश) में उनके निवास के समय सन् 1950 से ही जानती हूँ। अपने छोटे, सीमित क्षेत्र मे कार्यरत रहते हुए भी वह नगर की सभी संस्थाओ पर छाए थे। कार्य प्राइमरी स्कूल को अध्यापकी, पर शैक्षणिक, सामाजिक सभी संस्थाओ मे सक्रिय। कुछेक के संस्थापक-संचालक और कइयो के सहयोगी, मार्गदर्शक, परामर्शदाता। श्री दुबे का जन्म (सन् 1913) में सागर जिले के पिपरिया गांव मे हुआ। पिता का नाम श्री पूरनलाल दुबे व माता का सुमित्रा बाई था। परिवार की आर्थिक स्थिति अनुसार 15 वर्ष की अल्पायु मे ही उन्हें घर-गृहस्थी का भार उठाना पड़ा था। परिवार के भरण-पोषण मे ही नही, पारिवारिक ऋण की अदायगी मे भी उन्हे हाथ बटाना पडा तो मालगुजार के यहाँ मुख्तार बने। धार्मिक निष्ठा मा से और श्रम, स्वावलंबन, आत्मानुशासन और प्रणपालन की आदत पिता से विरासत मे मिली थी। आर्थिक कठिनाई के कारण माध्यमिक शिक्षा के बाद अध्ययन प्रशिक्षण प्राप्त कर शिक्षा-क्षेत्र मे उतरे और वही रह कर विशारद, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार, मैट्रिक

इंटर आदि परीक्षाएं पार करते गए। स्काउटिंग में सर्वोच्च परीक्षा पास कर 'मैडल आफ मैरिट' प्राप्त किया। रेडक्रास काउंसलर भी बने। आजादी के बाद 'गांधी स्मारक निधि' में काम किया। विनोबा के साथ भी घूमे। मऊ छोड़ कर देवरी में 'गांधी घर' खोला और उसके माध्यम से ग्रामीण जागृति की अलख जगाते रहे। चर्खा कात कर स्वयं का कता-बुना पहनते तो उन्हें मऊ में भी देखा जा सकता था।

मऊ के अपने सामाजिक कार्यक्षेत्र में हमें अनेक बार श्री बैजनाथ-प्रसाद दुबे के पास आवश्यक सलाह-मशवरा लेने के लिए जाना पड़ता था। हमेशा बड़े भाई की तरह उन्होंने कार्यकर्ताओं की बात सुनी, उनका मार्ग-दर्शन किया और समय-असहाय, फुरसत या व्यस्तता न देख हर संभव सहायता के लिए तत्पर रहे। ऐसे कर्मठ कार्यकर्ता के व्यस्त ज्योतित जीवन में जब एकाएक अंधेरा घिर आए, जब एक मार्गदर्शक को स्वयं ही अपना दैनिक काम चलाने के लिए मार्गदर्शक की जरूरत पड़ जाए तो कैसा लगता होगा? कैसी मार्मिक व दु:सह्य होती होगी यह अनुभूति? वर्षों बाद उनसे भोपाल में भेंट होने पर मेरी उत्सुकता यह जानने में थी। लेकिन कुछ लोग होते हैं जो ऐसी टीसभरी अनुभूति में से भी बेलाग निकल जाते हैं। अगली हर परीक्षा उनके लिए आसान हो जाती है। बाह्य अंधेरे से लड़ने के लिए उनके अन्तर्दीप जगमगा उठते हैं। अपने नेत्र खो देने के बाद अपने बुढ़ापे की लाठी इकलौते पुत्र को भी खो दिया। मिलने पर जहां उनकी पत्नी बेटे को याद कर बिलख उठी थी, श्री दुबे एकदम शांत बैठे रहे थे, जैसे कुछ हुआ ही न हो। थोड़ी देर बाद इतना ही बोले, "रोने धोने से क्या होगा? ये ही तो हमारी सहनशक्ति की परीक्षाएं हैं।"

अब तो अपनी पत्नी को भी खोकर नितान्त अकेले पड़ गए हैं। पर क्या मजाल कि इस हादसे पर भी वह रोए-बिलखे हों! "मैं अकेला कहां हूँ"? 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' के आज भी प्रांतीय मंत्री-संचालक श्री बैजनाथ प्रसाद दुबे ऐसे ही साहसी, कर्मठ और सुदृढ व्यक्तित्व के धनी हैं।

नेत्र खो देने के बाद भी वे अपना प्रांतीय कार्यालय कैसे पूर्ववत् चला रहे हैं? 'हिन्दी भवन' और पुस्तकालय उन्होंने कैसे खड़ा किया? बाधाओं पर साहस की यह एक अद्भुत विजय-गाथा है।

हिन्दी विकास कार्य में उनकी रुचि प्रारंभ से ही रही। महू म.प्र. में नगर के प्रसिद्ध रामचन्द्र पुस्तकालय के सचिव के नाते पुस्तकालय के संचालन और विकास में तो उनका प्रमुख हाथ था ही, मध्यभारत हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हो या 'हिन्दी दिवस' समारोह या स्थानीय मंच पर आमंत्रित कवियों के सम्मेलन-गोष्ठियां, दुबे जी ही नगर के कर्ता-धर्ता रहे। पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की प्रेरणा से साहित्य प्रेम इतना बढ़ा कि हमेशा प्रसिद्ध साहित्यकारों को नगर में बुलाते और उनके स्वागत-सत्कार में बढ़चढ़ कर भाग लेते। स्वयं लिखते भी रहे। कुछ प्रकाशित भी हुआ। पर अधिकांश अप्रकाशित रह गया, क्योंकि संस्थाओं में ही व्यस्त रहते रहे। भोपाल के राजधानी बनते ही 'राष्ट्र भाषा प्रचार समिति' का प्रान्तीय कार्यालय भोपाल लाया गया तो मंत्री-संचालक के नाते उन्हें महू का अपना घर छोड़ भोपाल आ जाना पड़ा। मध्यप्रदेश के प्रथम मुख्यमंत्री पंडित रविशंकर शुक्ल के सम्मुख उनके शपथ-ग्रहण के तत्काल बाद उन्होंने भोपाल में 'हिन्दी भवन' बनाने की अपनी योजना रख दी। शुक्ल जी से इसके लिए आश्वासन भी ले लिया। शुक्ल जी के निधन के बहुत बाद बने 'हिन्दी भवन' का नाम इसीलिए 'रविशंकर शुक्ल हिन्दी भवन' रखा गया है।

शुक्ल-जी नहीं रहे। पर दुबेजी अपना धैर्य संजोए रहे। फिर उन्हें एकाएक ऐसे नेत्र रोग ने आ घेरा कि महीनों अस्पताल में रहने व कई आपरेशन झेलने के बाद भी उनके नेत्र हमेशा के लिए मुंद गए। एक कर्मठ, हर समय व्यस्त रहने वाला आदमी एकाएक असहाय हो गया। पर यह गम व ठहराव थोड़ी देर ही रहा। संकल्प शक्ति बटोर कर वह जल्दी ही उठ खडे हुए और पूर्ववत अपने काम में लग गए। 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' वर्धा की ओर से उनके लिए सहायकों का प्रबंध कर दिया गया और प्रांतीय संचालन उसी तरह होने लगा। पर सहायक मिल जाने पर उसी तरह काम चलाया जा सकता है, यह कहना जितना आसान है, उतना होता नही। इसके लिए व्यवस्थापन-कुशलता, विलक्षण सूझबूझ और अपार धीरज चाहिए। पूछने पर शांत भाव से उनका उत्तर था, "बाहरी खिड़कियां बंद हो जाने पर भीतरी नेत्र खुल जाते हैं। एकाग्रता बढ़ती है तो कार्य क्षमता में वृद्धि ही होती है। व्यवधान तभी आता है जब हम स्वयं शिथिल हो कर बैठ जाएं

और काम के प्रति लापरवाह हो जाएं, अन्यथा नही। मेहनती और सतर्क व्यक्ति के पास रहने वाले कर्मचारी भी सतर्क और मेहनती हो जाते है। मुझे अपने कर्मचारियो से इसीलिए कोई शिकायत नही रही।·········आप जान कर आश्चर्य करेंगी शायद, पर यह सच है कि 'हिन्दी भवन' का सारा निर्माण-कार्य मेरी ही 'देखरेख मे' हुआ है। उसके बाद आज तक के कार्य-सचालन मे भी मुझे किसी कर्मचारी या सेवक ने धोखा नही दिया।"

सहायक को साथ ले भिक्षा-पात्र लिये दुबे जी 'हिन्दी भवन' के लिए द्वार-द्वार गए। क्या सेठ, क्या सरकारी अधिकारी, क्या परिचित नेता और अन्य मित्रगण, नेत्र खो कर भी इस तरह 'हिन्दी भवन' के निर्माण के लिए व्याकुल व्यक्ति को स्वयं चल कर आया देख सभी ने मुक्त हस्त से दान दिया। सरकारी अनुदान भी मिल गया। मुदी आखे ही नक्शा बनाती और सारा निर्माण-कार्य देखती, बाद मे तैयार भवन की साज-सज्जा का, उसमे पुस्तकालय स्थापित करने का, और अन्य सभी व्यवस्थाओं का भी। सपना साकार हुआ। 'हिन्दी भवन' बना। अतिथि गृह, पुस्तकालय कक्षाओं के कमरे आदि भी तैयार हुए। पर निर्माण-कार्य पैसे के अभाव मे आगे अधूरा पड़ा है, जिसे, उनके अनुसार, वे अवश्य अपने जीते-जी पूरा करेंगे।

जब वे एक-एक कर आगे की योजनाएं गिनाते हैं—पुस्तकालय और अतिथि-गृह का विस्तार, प्रेस, पत्रिका (एक त्रैमासिक पत्रिका 'अक्षरा' प्रारभ भी कर दी गई है) पुस्तक-प्रकाशन और न जाने क्या क्या—तो उनकी बंद आंखों के पीछे छिपी पुतलियां भी न जाने कैसी अद्भुत चमक छोड़ती हैं कि देखने वाला अभिभूत हुए बिना नही रहता।

'हिन्दी भवन' मे कार्यकर्त्ता-सम्मेलनों, साहित्यिक गोष्ठियो, अहिंदी भाषी हिन्दी लेखको के सम्मान-समारोहों, सुप्रसिद्ध लेखको व हिन्दी सेवियो के स्वागत-समारोहों आदि के समय दुबे जी की अद्भुत व्यवस्था-क्षमता और उमंग देखते ही बनती है। सब कार्य समय पर सम्पन्न और सभी कार्यकर्ता अनुशासनबद्ध कार्यरत। स्वयं दिन भर फोन घुमा कर संपर्क साधते रहेगे, आगंतुकों को बोली से पहचान लेंगे और योजनानुसार कार्य चलता रहेगा। मिलने वालो से बातचीत करते हुए भी कार्यकर्ताओ को

आदेश जारी करते रहेंगे व उनसे काम लेते रहेंगे। अद्भुत आयोजन-सूझबूझ, अप्रतिम संगठन-क्षमता और कुशल व्यवस्था। कोई नेत्रयुक्त व्यक्ति भी क्या करेगा—ऐसी।

इसीलिए कहते हैं, किसी भी संस्था, योजना या आयोजन के पीछे साधन-बल से अधिक व्यक्तित्व-बल होना चाहिए। प्राय: काम साधनों के अभाव में नहीं रुकते, कमठ व समर्पित कार्यकर्ताओं के अभाव में ही रुकते हैं। जमाना कितना ही बदल गया हो, हर काल का यह सत्य आज का भी सत्य है।

△



अद्भुत जीवट के धनी

महाराज कृष्ण जैन

पत्र-पत्रिकाओं को पलटते हुए अक्सर एक 'पैनल—विज्ञापन' दिखाई दे जाता 'कहानी लेखन महाविद्यालय, अम्बाला'। पर यह पत्राचार-पाठ्यक्रमों का हिन्दी मे प्रथम व श्रेष्ठ सस्थान है, इसका अनुमान न था। कहानी लेखन का भी शिक्षण हो सकता है व उसमें इस तरह नव लेखकों को बांधा जा सकता है, यह बात गले उतरती न थी। इसलिए प्रायः इसे भी विज्ञापन द्वारा आय का एक साधन मात्र मानकर इसकी उपेक्षा कर देती थी। किन्तु सयोगवश अम्बाला में इसके सचालक श्री महाराज कृष्ण जैन से मिलने और उनके पाठ्यक्रमो की निर्धारण-संभालन प्रणाली देखकर मेरी धारणा बदल गई।

कोई कार्य योजना हो या किसी संस्था—संस्थान का संचालन, हमेशा उसकी सफलता के पीछे कोई एक व्यक्तित्व होता है—जीवट का व्यक्तित्व। कर्मठता और कार्य के प्रति समर्पण तो बिना विद्वत्ता के भी सफलता के सेतु बनते है, फिर उनके साथ विद्वत्ता और आयोजन-निपुणता भी मिल जायं तो असफलता के लिए कोई गुंजाइश नही रहती। सर्वाधिक आयु के इस पहले पत्राचार-पाठ्यक्रम संस्थान की सफलता के पीछे भी यही रहस्य है।

सन् 1974। 'भारतीय साहित्य परिषद' के क्षेत्रीय सम्मेलन में भाग लेने के लिए मेरी अम्बाला-यात्रा के पीछे मेरे लिए दो आकर्षण थे—एक, दिल्ली से जाने वाले अनेक जाने माने साहित्यकारों के सानिध्य का अवसर।

आदेश जारी करते रहेंगे व उनसे काम लेते रहेंगे। अद्भुत आयोजक-सूझबूझ, अप्रतिम संगठन-क्षमता और कुशल व्यवस्था। कोई नेत्रयुक्त व्यक्ति भी क्या करेगा—ऐसी।

इसीलिए कहते हैं, किसी भी संस्था, योजना या आयोजन के पीछे साधन-बल से अधिक व्यक्तित्व-बल होना चाहिए। प्राय: काम साधनों के अभाव में नहीं रुकते, कमठ व समर्पित कार्यकर्ताओं के अभाव में ही रुकते हैं। जमाना कितना ही बदल गया हो, हर काल का यह सत्य आज का भी सत्य है।

Δ



अद्भुत जीवट के धनी

महाराज कृष्ण जैन

पत्र-पत्रिकाओं को पलटते हुए अक्सर एक 'पैनल—विज्ञापन' दिखाई दे जाता 'कहानी लेखन महाविद्यालय, अम्बाला'। पर यह पत्राचार-पाठ्यक्रमों का हिन्दी में प्रथम व श्रेष्ठ संस्थान है, इसका अनुमान न था। कहानी लेखन का भी शिक्षण हो सकता है व उसमें इस तरह नव लेखकों को बांधा जा सकता है, यह बात गले उतरती न थी। इसलिए प्रायः इसे भी विज्ञापन द्वारा आय का एक साधन मात्र मानकर इसकी उपेक्षा कर देती थी। किन्तु संयोगवश अम्बाला में इसके संचालक श्री महाराज कृष्ण जैन से मिलने और उनके पाठ्यक्रमों की निर्धारण-सभालन प्रणाली देखकर मेरी धारणा बदल गई।

कोई कार्य योजना हो या किसी संस्था—संस्थान का संचालन, हमेशा उसकी सफलता के पीछे कोई एक व्यक्तित्व होता है—जीवट का व्यक्तित्व। कर्मठता और कार्य के प्रति समर्पण तो बिना विद्वत्ता के भी सफलता के सेतु बनते हैं, फिर उनके साथ विद्वत्ता और आयोजन-निपुणता भी मिल जायं तो असफलता के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती। सर्वाधिक आयु के इस पहले पत्राचार-पाठ्यक्रम संस्थान की सफलता के पीछे भी यही रहस्य है।

सन् 1974। 'भारतीय साहित्य परिषद' के क्षेत्रीय सम्मेलन में भाग लेने के लिए मेरी अम्बाला-यात्रा के पीछे मेरे लिए दो आकर्षण थे—एक, दिल्ली से जाने वाले अनेक जाने माने साहित्यकारों के सानिध्य का अवसर।

दूसरे, सम्मेलन-स्थल के पड़ोस में मेरी बड़ी बहन का घर। सम्मेलन-स्थल पर ही मेरी उर्मि कृष्ण (जो विवाह से पूर्व उर्मि दुबे के नाम से कहानियाँ लिखती थी और इन्दौर निवासी होने के कारण मेरी पूर्व परिचित थी) से अचानक मेरी भेंट हो गई और उन्होंने अन्तिम दिन हम में से कुछ लोगों को अपने घर पर आमंत्रित कर लिया।

उर्मि कृष्ण के पति महाराज कृष्ण जैन हो 'कहानी लेखन महाविद्यालय' के संचालक हैं और उर्मि ने सोच समझकर ही इन विकलांग विद्वान से विवाह किया है, यह जानकर मेरी जिज्ञासा श्री जैन से मिलने के लिए स्वाभाविक ही बढ़ गई थी। दूसरे दिन भाई यशपाल जैन और प्रभाकर माचवे के साथ मैं उनके घर पहुँची और पहिये वाली कुर्सी पर बैठे छोटे से कद के, किन्तु सस्मित तेजोमय आभा से मंडित इस व्यक्ति को देखकर दंग रह गई। उर्मि स्वागत-सत्कार में लगी रही और महाराज कृष्ण जैन ने इस बीच हमें अपनी बातों से बाँधे रखा। इसके बाद कभी-कभी पत्राचार भी हुआ और जब कभी अपनी बहन के पास अम्बाला जाना हुआ, उनसे मिलन भी। उर्मि का आग्रह और महाराज कृष्ण से साहित्यिक-सामाजिक चर्चा व प्रलोभन ही मुझे वहां ले जाता। बातचीत तो होती ही, मैं उनकी भंगिम विकलांगता को नकारती-सी उनकी जिजीविषा, सामान्य अध्ययन, अनु जीवन-साधना में पगे उनके व्यक्तित्व और उर्मि के त्याग व उत्सर्ग अनकही कहानी को भी गुपचुप पढ़ती रहती।

अब श्री महाराज कृष्ण जैन से किये गये मेरे कुछ प्रश्नों के उत्तर :

''कथा-लेखन में शिक्षण की उपयोगिता ?''

''ठीक उतनी और उसी सीमा तक, जिस सीमा तक अन्य ललित कलाओं—संगीत, नृत्य, चित्रकला, अभिनय आदि में शिक्षण की उपयोगिता हो सकती है। गहन रुचि व प्रतिभा तो अपेक्षित है ही। लेकिन क्या निरी 'प्रतिभा' के बल पर कोई सफल गायक, वादक, नर्तक या चित्रकार बनता है ? हर विद्या का अपना शास्त्र होता है। सिद्धान्त होता है। संस्कार होता है। शिक्षण से पृष्ठभूमि या आधार को ग्रहण करने में सहायता मिलती है। भटकाव कम हो जाता है।

''दूसरी बात, कथा-लेखन की साहित्यिक धारा के अतिरिक्त एक व्यावसायिक धारा भी है—सरिता टाइप और गुलशन नन्दा टाइप। वैसा

लेखन तो बहुत हद तक सीखा ही जा सकता है। इसमें केवल शिल्प होता है। हम भी अनिवार्यतः केवल शिल्प ही सिखा सकते हैं और सिखाते हैं। कथा वस्तु तो लेखक के व्यक्तित्व से, उसकी अनुभूति से निःसृत होगी। हमारे अधिकांश लेखक व्यावसायिक लेखन में ही उतरते हैं। हां, कुछ साहित्य में भी उतर आते हैं। (वैसे दोनों में कई बार भेद की रेखा खींचना कठिन हो जाता है।) पर अभिरुचि अथवा विशेष प्रवृत्ति या संस्कारों के अभाव में लेखन सीखना-सिखाना असंभव है। हम भी वहां कुछ नहीं कर सकते।"

"आपका क्या ख्याल है, इस क्षेत्र को भी 'ग्लैमर' से जोड़ लेने के कारण ही इधर नवलेखकों और कथित लेखकों की भीड़ आकर्षित नहीं हो रही ?"

"मैं समझता हूं, 'ग्लैमर' इसमें पहले था। हाल के वर्षों में निश्चय ही यह घटा है। 'ग्लैमर के कारण भी लोग इधर आते हैं पर वे प्रायः बीच में ही छोड़ देते हैं, क्योंकि साधना उनके वश की बात नहीं होती। वैसे भी हमारे पास' 'ड्राप आउट रेट' काफी है। आंकड़ा तो नहीं बनाया, पर पचास प्रतिशत के ऊपर ही होगा।"

"कथालेखन से इतर लेखन-विधाओं का प्रशिक्षण भी तो अब आप देते हैं, उसके बारे में आपका अनुभव ?"

"दरअसल अब हमें संस्थान का नाम बदलना चाहिए, क्योंकि इस समय हम पांच पाठ्यक्रम चला रहे हैं। पत्रकारिता भी इनमें से एक है। लेख-रचना, 'फीचर' लिखना भी। लेखन की अन्य विधाओं ने इधर बल पकड़ा है। पत्रकारिता ('सत्यकथा' भी इसी की एक विधा है) ही कहानी को स्थानच्युत कर रही है। यह विश्वव्यापी प्रवृत्ति है। पत्रकारिता, लेख-फीचर आदि में तो शिल्प ही प्रमुख है। कहानी की तरह यहां वस्तु उतनी आतरिक नहीं होती। अतः प्रशिक्षण से कई लोग चल जाते हैं। हां, जमते तो अपने निरन्तर लेखन व अभ्यास द्वारा ही हैं।"

" 'कहानी लेखन महाविद्यालय' चलाने की प्रेरणा ?"

"एक नवोदित लेखक के रूप में अपनी कठिनाइयों के अनुभव से ही समझिये। अपनी पढ़ाई पूरी करने के बाद मैंने लिखना आरंभ किया था। सभी विधाओं में छिटपुट लिखा व छपा। धर्मयुग, कादम्बिनी, मुक्ता,

मनोरमा, ईव्ज वीकली, फेमिना, सण्डे स्टैण्डर्ड, जे एस. आदि में मेरी रचनाएं निकली। आकाशवाणी से भी वार्ताएं और प्रहसन प्रसारित हुए। पर 'अनुभव की सीमा' के कारण अधिक लिखना संभव न था। आजीविका के लिए पारिश्रमिक भी आकर्षक नही। अतः स्वतंत्र लेखन से चला नहीं पाया। तब नवलेखन की कठिनाइयों को झेलते-समझते हुए ही ऐसा एक विद्यालय खोलने-चलाने का विचार आया। आरम्भ दिल्ली से ही किया था, फिर अम्वाला आ गया। आपने पाठ्यक्रम देखे हैं। मेरी कार्यप्रणाली भी। मैंने बड़े परिश्रम से इसे खड़ा किया है। पर ख्याति ही मिली, आर्थिक मोर्चे पर विद्यालय विशेष सफल नही रहा। लेखन जैसी अभिरुचि पर पैसा लगाना कम ही लोगों के लिए संभव है। इसीलिए इतने वर्षों बाद भी निर्वाह के लिए पर्याप्त आय नही हो पाती। लेखन, प्रेत-लेखन, प्रकाशन आदि अन्य स्रोतों से पूर्ति करनी पड़ती है।''

महाराज कृष्ण जैन का जन्म अम्बाला छावनी के एक निम्न मध्य-वर्गीय परिवार मे 31 मई, 1938 को हुआ था। पाच वर्ष की आयु मे ही वह पक्षाघात के शिकार हो गये थे। उन्होंने बताया, ''प्रारंभ मे संपूर्ण पक्षाघात था। उन दिनों इसकी विशेष चिकित्सा थी नही। फिर भी क्रमशः ठीक होते हुए शरीर का ऊपरी भाग पक्षाघात से मुक्त हो गया, निचला भाग ग्रस्त रह गया। शुरू मे विशेष शिक्षा की सुविधाएं मुझे नहीं मिली। पर बड़े भाई-बहन सब पढ़ते थे तो उनसे अध्ययन का परिवेश भी मिला, शिक्षण में सहायता भी। स्कूली कठिनाई के बावजूद, अध्यापकों के स्नेह और छात्रों के सम्मान के बीच आठ वर्ष तक सफल स्कूल-शिक्षण भी लिया। पाचवी से दसवी तक हर कक्षा मे प्रथम आता रहा। दसवी मे छात्रवृत्ति भी मिली। पर विशेष रुचि होने पर भी व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण गणित व विज्ञान की शिक्षा न ले पाने का मलाल रह गया। दसवी के बाद ट्यूशनों के सम्बल पर शिक्षा आगे बढ़ाई। कालेज न जा सका। प्राइवेट इंटर, बी. ए. व प्रभाकर की परीक्षाएं पास की। फिर कालेज-प्रवेश लिया और प्रथम श्रेणी हिन्दी एम. ए. की डिग्री ली। पीएच. डी. भी की। शोध के लिए यू. जी. सी. की शोधवृत्ति मिल गई थी। उन्ही दिनों स्वतंत्र लेखन भी चला।''

इसके बाद तो नए लेखको की कठिनाइयों के अनुभव ने श्री जैन को 'कहानी लेखन महाविद्यालय' के प्रधानाचार्य और संचालक के रूप मे स्थापित कर दिया। उनके अनुसार, "अभिरुचियाँ, समय के साथ बदलती रही। कभी हस्तरेखा, ज्योतिष, होमियोपैथी का शौक था। अध्ययन एक मात्र मनोरंजन था ही। अब गल्पेतर साहित्य अधिक पढ़ता हूँ—दर्शन, समाजशास्त्र परिस्थितिकी, यात्रा-पर्यटन, वन्य जीवन, शिकार, उद्यान कला, विज्ञान में विशेष रुचि। कविता में भी। स्वय पर्यटन की अदम्य लालसा रखता हूं। पत्नी के साथ दुर्गम स्थल भी देखे है। नागालैण्ड, किन्नर प्रदेश, कुल्लू-मनाली काश्मीर, गंगोत्री, बद्रीनाथ, अलमोड़ा, मसूरी का पूरा क्षेत्र। जयपुर, अजमेर, आगरा आदि भी। बैठकबाजी गपशप का भी शौक है, पर गिने चुने मित्रों मे।"

मैंने सुना था, उर्मि दुबे से उनका प्रारंभिक परिचय भी छात्रा-शिक्षक के नाते ही हुआ था। पर इस बात की पुष्टि नही हो सकी थी। मैंने कुछ झिझक के साथ प्रश्न इस रूप मे उठाया, "कहानी लेखिका उर्मि दुबे ने आपको खोजा या आपने उर्मि दुबे को खोज कर उर्मि कृष्ण बनाया ?

उत्तर में उन्होने इतना ही कहा, "किसने किसको खोजा,, इसका गणितीय उत्तर नही है। जीवन का अनुभव सिखाता है कि विधि का विधान ही शायद सब करता है। 'मैंने खोजा' कहना तो सरासर झूठ होगा। एक जीवन साथी पा सकने की संभावना मुझे लगती नही थी। यह निराशा नही, यथार्थ बोध था। मानसिक, भावनात्मक 'खोज' या आकुलता तो थी ही। इसे महत्व दें तो कह सकते है कि दोनों को ही खोज थी। विवाह पूर्व परिचय केवल चार-छह मास का पत्राचार और दो तीन सप्ताह का प्रत्यक्ष-बस फिर दोनो ने एक-दूसरे को पा लिया। आगे भी कठिनाई आर्थिक संघर्ष की ही रही, पारस्परिक अनुकूलन की कमी नहीं। हा, उर्मि का लेखन कम हुआ-लेकिन मात्रा में ही, अनुभव की दृष्टि से उसमें विस्तार ही आया है। उर्मि घर की देखभाल को प्रमुख रखती है। वह सर्वप्रथम सफल गृहिणी होना चाहती है और हैं। इसलिए मैं उन्हें इधर कम ही उलझाता हूँ। मैं गृहस्थी के इस पक्ष से निश्चिन्त रहता हूँ। हां, इधर कुछ समय से वह संस्थान के हिसाब-किताब में और विद्यालय की पत्रिका 'तारिका' के लिए भी समय दे रही हैं। मूड मे और फुरसत में पढती लिखती भी है।"

लेकिन उर्मि के चेहरे पर समय पूर्व खिंच रही आयु रेखाएं बताती हैं कि उन्हें कितने अतिरिक्त साहस, धैर्य और श्रम की आवश्यकता पड़ती होगी। अपने पर्यटन प्रेमी विकलांग पति को कुर्सी पर लेकर पर्यटन के दौरान उन्होंने जो झेला, इसकी एक झलक कुछ समय पूर्व 'धर्मयुग' में छपे उनके यात्रा-संस्मरणों से मिली थी। एक कथा-लेखिका सर्वप्रथम कथा-लेखिका न होकर सर्वप्रथम गृहिणी होना चाहती है– श्री जैन के इस कथन में भी उर्मि के उत्सर्ग की कहानी छिपी है।

सफल दाम्पत्य के लिए स्त्री का उत्सर्ग आवश्यक है, शायद इसलिए या यह श्री महाराज कृष्ण जैन के प्यार की जीत है? बहरहाल उर्मि इस पर मौन है और मौन अपने आप में एक सुकून है।

विकलांगता के बावजूद, उच्च शिक्षा, लेखन, व्यवसाय और जीवन में इतनी सफलता या उपलब्धि के लिए व्यक्ति में अतिरिक्त क्षमता व साहस चाहिए ही। *श्री जैन से पूछो तो कहेंगे "अतिरिक्त क्षमता, साहस जैसा कुछ* मुझे नहीं लगा अपने में।' यह उनकी जीवन साधना भी है, विनम्रता भी। मुझे लगता है, उर्मि की शायद इससे अधिक। दूसरों के लिए इसीलिए एक प्रेरणा है, यह दाम्पत्य। जीवन की एक मिसाल।

∆



पहले रायबहादुर, फिर 'पद्म श्री'

जनसेवी चिकित्सक डा. मथुरादास मोगावाले

"आँख का आपरेशन बड़ा नाजुक आपरेशन होता है और मैंने सुना है, अब वृद्धावस्था के कारण आपके हाथ कांपने लगे है, फिर आपके हाथों ये आपरेशन कैसे सफल होते हैं और वह भी इतनी शीघ्रता से ?"

मैंने तो केवल जिज्ञासावश पूछा था, पर वह 85 वर्षीय 'युवक' जैसे ताव खा गया, किसने कहा था तुमसे कि मेरे हाथ कांपते हैं ? यह देखो.... और उन्होंने अपने हाथ दिखाते हुए कहा, कहाँ है इनमें कंपन ? अभी तो ये बहुत मजबूत हैं। हाथ ही नहीं, यह मेरा पूरा शरीर अभी खूब मजबूत है। आज भी मैं दस घण्टे लगातार खड़े रहकर काम कर सकता हूँ।"

1966 में पटेलनगर दिल्ली के एक 'नेत्रदान यज्ञ शिविर' में 'रायबहादुर डाक्टर मथुरादास मोगावाले' नाम से प्रसिद्ध एक कुशल और महान सेवा भावी नेत्र-सर्जन को 85 वर्ष की वृद्धावस्था में दो घण्टे के भीतर 70 रोगियों की आंखों का सफल आपरेशन निबटाते देखकर और यह जानकर कि स्थान-स्थान पर आयोजित नेत्रदान शिविरों में वे आजीवन इसी प्रकार गरीब रोगियों का निःशुल्क आपरेशन कर उन्हें ज्योति प्रदान करते आये हैं, मुझमें उनके विषय में कुछ अधिक जानने की जिज्ञासा स्वाभाविक थी। और तीन-चार दिन बाद इसी सिलसिले में मैं राजपुर रोड स्थित उनके निवास स्थान पर जा पहुँची थी।

उन्होंने जो बताया था, स्वयं उनके शब्दों में, "तुम इस अवस्था में मेरे द्वारा एक दिन में 421 रोगियों का आपरेशन करने पर चकित हो रहे हो, मैंने 18 नवम्बर, 1932 को बनारस में एक दिन में 707 व्यक्तियों का आपरेशन किया था। यदि उस उम्र में एक दिन में सात सौ व्यक्तियों का आपरेशन कर सकता था, तो आज चार सौ को निबटा लेना कोई बड़ी बात नहीं है। लेकिन एक बात मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि इतनी शीघ्रता से करने पर भी मेरे द्वारा सफल आपरेशनों का प्रतिशत आज के किसी भी सर्जन से अधिक है।"

उन्होंने बताया था कि तब तक वे लाखों व्यक्तियों की आँखों का आपरेशन कर चुके थे। इस महान समाजसेवी और नेत्रदानी व्यक्ति की इसी महान मानवीय सेवा से प्रभावित होकर अंग्रेजी सरकार ने उन्हें कई रजत और स्वर्ण पदकों के अतिरिक्त पहले 'राय साहब' व फिर 'राय बहादुर' की उपाधि से सम्मानित किया था। स्वतन्त्र भारत की सरकार ने उन्हें 'पद्मश्री' की उपाधि से विभूषित किया।

नेत्रदान-शिविरों की परम्परा में न केवल उनके द्वारा आपरेशन या चिकित्सा की फीस नहीं ली जाती थी, उनके इस सेवा-कार्य से प्रभावित हो, समाजसेवी संस्थाएं भी उसमें पूरा योगदान देती थीं। अधिकतर ये शिविर सामाजिक या धार्मिक संस्थाओं में ही लगाये जाते थे। और रोगियों को निःशुल्क दवाओं और भोजन की भी सुविधा दी जाती थी। पटेलनगर दिल्ली स्थित जो शिविर मैंने देखा, वह आर्यसमाज मन्दिर में लगाया गया था, और पिछले तीन वर्ष से यहीं लगाया जाता रहा था। इस शिविर में रोगियों के लिए चारपाइयां, दवाएं, भोजन और जलपान की व्यवस्था संस्था द्वारा ही की गयी थी और समाज की सदस्य महिलाएं घरों से दूध, डबलरोटी, चाय, खिचड़ी आदि देने के साथ बारी-बारी से नर्सिंग ड्यूटी भी संभालती थीं। अधिकतर इस शिविर में गरीब रोगी ही आये थे।

अपने अच्छे स्वास्थ्य का रहस्य बताते हुए डा० मथुरादास जी ने कहा था, "सुबह तड़के उठकर नियमित रूप से घूमने जाता हूँ। दोपहर 12 बजे तक सिवाय पानी के कोई चीज नहीं खाता-पीता। फिर नियम से 12 बजे भोजन लेता हूँ। सुबह 12 बजे तक खूब काम कर लेता हूँ, फिर भोजन के

बाद दो घन्टे जम कर सोता हूँ, पर रात अधिक देर तक काम नहीं करता। रात जल्दी सोने और सुबह उठने की आदत है। दिन भर में सिवाय दो बार डटकर भोजन लेने के और कुछ भी नहीं खाने की आदत है। अंग्रेजों के साथ भी रहा हूँ पर चाय या शराब जैसा उत्तेजक पेय कभी नहीं लिया।

बातचीत के दौरान उनकी विशाल कोठी और उसमें चले नर्सिंग होम पर मेरी घूमती निगाहों को पकड़ते हुए वे स्वयं ही बोले थे, "बेटी तुम सोच रही होगी कि जो डा० सन् 1903 से आज तक गरीब रोगियों का इलाज करता आया है, उसने यह सम्पत्ति कहाँ से पैदा की ? लो सुनो :

"लाहौर मेडिकल स्कूल में जनरल सर्जरी पढ़ने के बाद सन् 1901 में 20 रुपये माहवार की नौकरी शुरू की थी। सन् 1903 में मुझे मोगा-डिस्पेंसरी का इंचार्ज बनाकर भेजा गया। तभी से स्वतन्त्र रूप से कार्य व प्रयोग करने का अवसर मिला। कर्नल स्मिथ नाम के एक प्रसिद्ध अंग्रेज सर्जन तब आंखों के आपरेशन का जो तरीका अपनाते थे, उस तरीके का शेष सर्जनों द्वारा विरोध किया जा रहा था, क्योंकि वह उनके तरीके से भिन्न था।

मैंने प्रयोग करने चाहे। अवसर भी मिल गया। शहर में कालरा फैला था। डिस्पेंसरी में काफी मरीज रोज आने लगे। उनमें कुछ आंखों के मरीज भी थे। कालरा से मर रहे इन मरीजों की आंखों का आपरेशन कर मैंने अपने प्रयोग आरम्भ किये। कुछ असफल भी रहे, पर वे मरीज चूंकि वैसे भी हैजे से मर रहे थे, इसलिए इन असफलताओं का विशेष मलाल नहीं रहा। तभी मैंने कर्नल स्मिथ को लिखकर उनका काम देखने की इच्छा प्रकट की, पर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया। फिर धुन तो अपनी राह आप ढूंढ़ ही लेती है न ! अवसर भी मिल गया।

"सन् 1908 में बम्बई में मेडिकल कांग्रेस होने वाली थी। मैंने कर्नल स्मिथ को फिर लिखा कि मैंने अपने प्रयोगों द्वारा उनका तरीका सही पाया है। यदि वे मुझे इसमें आगे अपना काम दिखाने के लिए तैयार हों, तो मैं मेडिकल कांग्रेस में उनके तरीके के समर्थन में पेपर पढ़ूंगा। कर्नल स्मिथ का तरीका ठीक होने पर भी वे उस समय विरोधियों से घिरे थे। मेरी यह चतुराई ठीक मौके पर काम कर गई। कर्नल स्मिथ के समर्थन में मैंने आवाज उठायी, उन्होंने मेरी सहायता की। उस समय सारा भारत जिस विधि का विरोधी था, अब वही अपनायी जाती है।

"इसी विधि द्वारा मुझे आगे चलकर इतनी सफलता मिली कि मोगा डिस्पेंसरी देशी-विदेशी नेत्र चिकित्सकों के लिए एक तरह का ट्रेनिंग केन्द्र बन बन गयी। अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, आयरलैण्ड से नेत्र-सर्जन मेरे पास काम सीखने के लिए आने लगे। बिना किसी तरह की मान्यता प्राप्त होने पर भी सन् 1927 में मेरे पास रहकर ट्रेनिंग प्राप्त एक विदेशी सर्जन कोमें 1929 गैलवे यूनिवर्सिटी (आयरलैण्ड) में प्रोफेसरशिप केवल इसीलिए प्राप्त हो गई कि उसने मेरे द्वारा दिया हुआ व्यक्तिगत सर्टीफिकेट प्रस्तुत किया था।

"1921 तक मैं काफी प्रसिद्ध हो गया था। सन् 1914 में 'ली कमीशन' की सिफारिश से 1915 में मैं असिस्टैण्ट सर्जन बना दिया गया व फिर रिटायर होने से चार महीने पूर्व केवल मान देने की खातिर ही सिविल सर्जन बनाकर रिटायर किया गया।

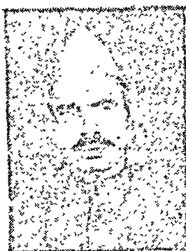
"तत्कालीन पंजाब सरकार ने मेरी ख्याति से प्रभावित होकर मुझे कई 'मुरब्बे' जमीन उपहार स्वरूप प्रदान की थी। रिटायर होने के बाद मैंने लाहौर की शाहदरा बस्ती में अपनी कोठी व एक 'चैरिटी' अस्पताल बनवाया था। सन् 1950 से दिल्ली में हूं। जमीन का पैसा और 'क्लेम' पास में था, तो दिल्ली का यह बंगला व अस्पताल बनवाया। यहां आकर चिकित्सा या आपरेशन कराने वाले समर्थ लोगों से पैसा लेता हूँ, नेत्र-शिविरों में निःशुल्क सेवाएं देता हूँ। सारे उत्तर भारत में समय-समय पर जो नेत्रदान शिविर लगते हैं, उनके बारे में तुम जानती ही हो। मेरे इसी काम से प्रभावित होकर भारत सरकार ने मुझे 'पद्म श्री' की उपाधि दी है। पर मेरा मूल्य तो वह सन्तोष है, जो मुझे इस कार्य से मिलता है।"

16 मार्च 1972 को 92 वर्ष की आयु में डा० मथुरादास मोगावाले इस संसार से विदा हुए, अपने पीछे सुकीर्ति की एक लकीर छोड़कर।

□

जीर्ण रोग विशेषज्ञ आयुर्वेदाचार्य

वैद्य सुरेश चतुर्वेदी



सन् 1977 सामान्य महिलाओं के लिए एक जानकारीपूर्ण ग्रंथ 'लेडीज हेल्थ गाइड' पर काम करते हुए अपने इस ग्रन्थ को अधिक से अधिक प्रामाणिक बनाने के लिए मैं विभिन्न रोगों एवं चिकित्सा-विषयों के विशेषज्ञ डाक्टरों, लेडी डाक्टरों से साक्षात्कार ले रही थी। यह काम लगभग पूरा हो चुका था। तभी मुझे ध्यान आया कि एलोपैथी के अलावा चिकित्सा-शास्त्र की अन्य शाखाओं—आयुर्वेद, होम्योपैथी, प्राकृतिक चिकित्सा—को सम्मिलित किये बिना यह ग्रन्थ अधूरा रहेगा। मैंने ग्रन्थ के अंत में इन चिकित्सा-पद्धतियों से संबंधित स्त्री रोगों की चिकित्सा के लिये एक परिशिष्ट जोड़ने का निश्चय किया। तब आयुर्वेद के लिए मुझे भारत के जाने-माने आयुर्वेदाचार्य श्री सुरेश चतुर्वेदी से अधिक उपयुक्त नाम नहीं सूझा।

एक लम्बी अवधि से मैं 'नवभारत टाइम्स' में आयुर्वेद चिकित्सा से सम्बन्धित वैद्य चतुर्वेदी का एक प्रश्नोत्तर-स्तंभ देखती आ रही थी। उनके लेख भी पत्र-पत्रिकाओं में पढ़े थे। तभी अपने बम्बई-प्रवास में एक दिन बंबई दूरदर्शन पर चतुर्वेदी जी की चिकित्सा-प्रश्नों पर बातचीत सुनकर मैंने उनसे एक लम्बा साक्षात्कार लेने का निश्चय किया। वैद्य चतुर्वेदी ने मुझे पूरा सहयोग दिया। इस तरह मेरी 'लेडीज हेल्थ गाइड' में स्त्री-रोगों की आयुर्वेदिक चिकित्सा वाला अध्याय जोड़ना संभव हुआ। तभी मुझे इन चिकित्सक के भीतर के सहृदय मानव का भी परिचय मिला।

फिर चतुर्वेदी जी कब निकट के आत्मीय मित्रों में से एक हो गये, इसका पता भी नही चला। उनके दिल्ली आने पर महानगर मे स्थान की दूरियों, परिवहन-असुविधा और समय की कमी के कारण हर बार मिलना सभव नही हो पाया था। लेकिन वह कही भी ठहरें, नगर मे आने पर एक बार फोन अवश्य कर लेते। हमेशा फोन पर बम्बई आने का निमंत्रण देना भी नही भूलते थे। यह अलग बात है कि अपनी चिकित्सा के लिये उनसे परामर्श लेने हेतु स्वयं गरजमन्द होने के बावजूद, मैं बम्बई जाने पर भी अभी तक अपने इस कार्य के लिए उनके यहां नही पहुँची थी। पत्र मे, फोन द्वारा वही स्वयं आगे होकर अक्सर मेरा हाल पूछ लेते। यह उनकी उदारता है।

दो वर्ष पूर्व पुरानी दिल्ली मे एक प्रकाशक के यहां उनसे भेंट हुई। वही खुला व्यवहार और आत्मीय बातचीत। कुछ कुशल-क्षेम, कुछ अध्ययन-लेखन-प्रकाशन की चर्चा। वह अपनी कुछ पुस्तकों के प्रकाशन के संदर्भ मे दिल्ली आये हुए थे और इस सिलसिले मे प्रकाशकों से मेरे परिचय का भी कुछ लाभ लेना चाहते थे। वैसे अपना काम उन्होंने स्वयं ही किया। मैं उनके विशेष काम नही आ सकी। प्रकाशन एक ऐसा नाजुक मसला है, जिसे ले कर प्रायः हर लेखक स्वयं ही एक अनिश्चितता मे रहता है और लगभग सभी को अपनी लडाई स्वयं ही लड़नी पडती है। चतुर्वेदी जी को भी इसका कुछ अनुभव रहा होगा। उन्होंने अन्यथा नहीं लिया। फिर उनकी पुस्तकों की मांग भी कम नही है। इधर तो उनकी कई पुस्तकें जल्दी-जल्दी आ गई हैं। उनकी देशव्यापी ख्याति ही इसके लिये पर्याप्त है।

डा. सुरेश चतुर्वेदी का जन्म 14 मई 1928 को भरतपुर (राजस्थान) मे हुआ। बनारस से उन्होंने 'व्याकरण प्रथमा' और 'मध्यमा प्रथमा' तथा बंगाल से 'उपनिषद प्रथमा' की परिक्षाएं पास की। 1944 से लाहौर मे आयुर्वेद का अध्ययन प्रारंभ किया और 1947 मे वैद्य कविराज एन. ए. एम. एम. की उपाधि प्राप्त की। लखनऊ से बी. आई. एम. एस., तथा एस. डी. आयुर्वेदिक कालेज दिल्ली से आयुर्वेदाचार्य कहलाये। इसके बाद अष्टाग आयुर्वेदिक कालेज कलकत्ता से औषधि-अनुसंधान कार्य, चिकित्सा कार्य व प्रसूति मे एम. ए. एम. एस. करके भिषिगाचार्य भी कहलाए।

वह उत्साह से बताते हैं, "विद्यार्थी जीवन से ही अनेक संगठनों के

मंत्री रहा, क्योंकि हाकी, वालीवाल व शतरंज में विशेष रुचि थी। कालेज के वार्षिक समारोहों में मंच-अभिनय भी करता था। 1944-50 तक 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' का सक्रिय सदस्य भी रहा। 1952 मे भारतीय जनसंघ' मे प्रवेश लिया और पश्चिम उपनगर जिला बम्बई का अध्यक्ष बना। फिर बम्बई प्रदेश जनसंघ कार्यकारिणी-सदस्य रहा और 1962 में बम्बई विधान सभा के लिये तथा 1963 मे लोक सभा के लिये चुनाव लड़ा। पुनर्वसु आयुर्वेदिक कालेज बम्बई मे अध्यापन कार्य कर रहा हूँ और आरोग्य निकेतन बमई का सचालन भी। अध्यापन विषय हैं : स्वस्थ वृत्त, व्यवहार आयुर्वेद, कार्य-चिकित्सा, प्रसूती तंत्र, कौमार, मृत्यु रसायन, वाजीकरण आदि। फैकल्टी आफ आयुर्वेद एण्ड यूनानी सिस्टम आफ मैडिसिन महाराष्ट्र, इंडियन मेडिसन बोर्ड राजस्थान, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, नि. भा. आयुर्वेद विद्यापीठ, दिल्ली, नागपुर, कानपुर तथा बम्बई विश्वविद्यालयों मे परीक्षक भी रहा।"

चिकित्सा का प्रत्यक्ष अनुभव उन्होने मूलचन्द आयुर्वेदिक हास्पिटल, लाहौर (विभाजन पूर्व पंजाब) मे कार्य करके लिया। उसके बाद नेत्र-चिकित्सा का अनुभव एल. एच. आयुर्वेद हास्पिटल पीलीभीत मे तथा प्रसूति का अष्टांग आयुर्वेदिक हास्पिटल कलकत्ता में। अब तो वैद्य सुरेश चतुर्वेदी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ में अपने लेखन से, नियमित स्वास्थ्य-स्तभ लेखन से, आकाशवाणी बम्बई, विविध भारती, चित्रशाला, तरग और दूरदर्शन बम्बई से अपने प्रसारणों से, अपनी पुस्तकों से तथा विभिन्न संस्थाओ-संगोष्ठियों में अपने भाषणो द्वारा इतने प्रसिद्ध हो गये हैं कि हर जगह उनकी माग बनी हुई है। वह देश के एक जाने माने जीर्ण एवं असाध्य रोग विशेषज्ञ हैं। आरोग्य फार्मेसी बम्बई मे विभिन्न अनुभूत औषधियों का निर्माण भी करते हैं। कई चिकित्सालयों में अशकालिक परामर्शदाता हैं और मुख्य चिकित्सक के नाते भी उनका नाम लगभग एक दर्जन अस्पतालो के साथ जुड़ा है। बम्बई अस्पताल, रोटरी क्लब अस्पताल, जुहू और बम्बई हवाई अड्डे के अवैतनिक परामर्शदाता का दायित्व भी निभा रहे हैं।

इसके साथ, निरतर लेखन, पाठको के ढेर से पत्रों के उत्तर, पुस्तक लेखन-प्रकाशन, चिकित्सा-परामर्श और भाषणो के लिये दूर-दूर, विदेश तक जाना, कई संस्थाओं से जुड़ना, आयुर्वेद चिकित्सा-संस्थानों में निरीक्षक-

परीक्षक के नाते कार्य करना, के. जी. एम. पी. आयुर्वेदिक कालेज में प्रोफेसर के नाते पढ़ाना, 'नवभारत टाइम्स' का नियमित स्तम्भ लिखना आदि। न जाने इतने सारे काम एक साथ वह कैसे कर लेते हैं? ऊर्जा और कार्यक्षमता की अद्‌भुत मिसाल हैं वह।

उनकी अभी तक प्रकाशित पुस्तकें हैं (1) स्वास्थ्य साधना, (2) आरोग्य पथ, (3) नारी जीवन की चिन्ताएं (4) स्त्रियों का स्वास्थ्य और रोग (5) घरेलू आयुर्वेदिक इलाज (6) सरल आयुर्वेदिक चिकित्सा (7) आहार-चिकित्सा। इनके अलावा, 'स्वास्थ्य शतक', 'वनस्पति चिकित्सा', 'यौवन', 'बाल स्वास्थ्य', 'आयुर्वेद इतिहास चित्रावली', 'हृदय रोग', 'कैंसर चिकित्सा' 'पुरुषों के रोग', गीता में आरोग्य', 'आरोग्य साधन', 'घरेलु दवाएं' 'संगीत और स्वास्थ्य', 'मधुमेह', 'आयुर्वेद फार यू' (अंग्रेजी), 'आयुर्वेदिक हेल्थ गाइड' (अंग्रेजी) आदि कई पुस्तकें प्रकाशनाधीन है। मुझे लगता है, उनकी इतनी बड़ी सफलता का राज है, उनका अच्छी देखभाल और संयम से साधा हुआ अच्छा स्वास्थ्य और पुष्ट शरीर। शायद उनका भरा पूरा सुखी घरेलू जीवन भी इसके पीछे है। उनकी पत्नी श्रीमती सुधा चतुर्वेदी स्वयं बी. ए., प्रभाकर और 'आयुर्वेद रत्न' हैं।

विभिन्न अभिरुचियों वाले इस सफल चिकित्सक का एक सामाजिक व्यक्तित्व ही नहीं, एक प्रयोगधर्मी व्यक्तित्व भी है। इधर जब से उन्हें जादव गुरुजी से प्राचीन भारतीय दिव्य औषधियों के अन्तर्गत वर्णित संजीवनी बूटी मिली है, वह उसकी खोज व आधुनिक चिकित्सा में उसके प्रयोग के पीछे दीवाने हो उठे हैं। उन्होंने सोल्लास बताया, महाराष्ट्र के आयुर्वेदिक विभाग के निदेशक के कमरे में अचानक मेरी भेंट एक सौम्य, शिष्ट सज्जन से हुई, जो पारंपरिक वनस्पतियों के अच्छे ज्ञाता हैं। उनका वानस्पतिक गहन ज्ञान देखकर मैं दांतों तले उंगली दबाकर रह गया। उन्होंने संजीवनी बूटी दी तो आश्वस्त होने के लिये मैंने पूछ लिया, 'इसका निर्णय कैसे होगा कि यह वही वनस्पति है, जो रात में चमकती है। उनका जानकारी भरा विश्वासपूर्ण उत्तर था, 'आप इस लकड़ी को गीला कर लें, फिर इसे रात को अंधेरे में रखें तो आपको इसके भीतर प्रकाश नजर आयेगा।" मैं बेताबी से रात्रि का इंतजार करने लगा। रात हुई। घुप्प अंधेरा, सन्नाटा और जिज्ञासा से धड़कता मेरा दिल। मैंने कमरे के पर्दे भी गिरा दिये। विधि-

पूर्वक वनस्पति को रखा। थोड़ी देर बाद चमत्कार दिखाई देने लगा। शुरू मे प्रकाश की एक किरण, धीरे धीरे बढ़ता हुआ इतना प्रकाश कि जैसे रेडियम की घड़ी सामने रखी हो। मैं उत्तेजना से भर उठा।

"तुरंत पत्नी को बुलाया और वनस्पति का चमत्कार दिखाया। अब एक दूसरे व्यक्ति द्वारा भी इसका सत्यापन हो चुका था। पत्नी आश्चर्यजनक मुद्रा मे सवाल पूछने लगी और मैं प्राचीन ग्रंथों के अपने ज्ञान के आधार पर संजीवनी के गुण गिनाने लगा। सारी रात मैं वनस्पति से आती इन प्रकाश किरणों को देखता रहा और 'आठ ऐश्वर्य' वाली वर्णित बात मन ही मन दुहराता रहा। सवेरे वनस्पति अपनी चमक खो चुकी थी और अब वह पहले की तरह ही एक सूखी लकड़ी मात्र थी। बाद में भी कई रातों तक मैं इसका चमत्कार देखता रहा। सोचता रहा, एक अमावस्या की रात जादव गुरुजी के साथ जाकर पहाड पर ही इस वनस्पति के साक्षात दर्शन करूंगा। लेकिन अभी तक यह सौभाग्य प्राप्त नहीं कर पाया हूं।

"आज राम, कृष्ण काल की ये विधाएं लुप्त हो गई हैं। मेरा प्रयास रहेगा, इन चमत्कारिक औषधियों को खोज कर रोग मुक्ति के लिए चिकित्सा जगत मे इनका फिर से लाभ लेना। इस दिशा में अधिकाधिक खोज और लम्बी साधना की जरूरत है। मैं आशा करता हूं कि अन्य उत्सुक लोग भी इस कार्य के लिए सामने आयेंगे।" कहते हुए चतुर्वेदी जी की आंखें उज्ज्वल अतीत की आभा और भविष्य के प्रति आस्था के उजाले से भर उठती है।

जून 1983 में राजधानी में आयोजित अ. भा. आयुर्वेद सम्मेलन के अवसर पर श्री सुरेश चतुर्वेदी जब दिल्ली आये तो इस बार मेरा निमंत्रण स्वीकार कर घर पर भी पधारे और तब हमारे बीच कुछ अधिक विस्तार से चर्चाएं हुईं—मेरे निजी रोग-इतिहास व चिकित्सा से लेकर आयुर्वेद और आरोग्य, भारत मे आयुर्वेद के भविष्य और आयुर्वेद की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि तक।

आयुर्वेद की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि समझाते हुए उन्होंने बताया, "मानव देह सृष्टि की वह अद्भुत देन है जिसमें स्वयं पूरी सृष्टि ही समाहित है। सृष्टि के मूलभूत पांच तत्व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश शरीर मे भी विद्यमान हैं। यह पंचभौतिक मानव शरीर ज्ञानेन्द्रिय,

कर्मेन्द्रियां, [illegible], मन, बुद्धि, अहंकार, आदि चौबीस तत्वों से युक्त होते हुए भी जीवात्मा की [illegible] ही अपना अस्तित्व रखता है। इन्द्रियों का विषय ग्रहण करना, मन का विषयों की ओर आकृष्ट होना, बुद्धि का विवेक करना आदि समस्त कार्य किसी विशिष्ट प्रेरणा के फलस्वरूप ही होते हैं।

"समस्त सृष्टि का ज्ञान जिनमें प्रकाशित किया गया है, उन चार वेदों ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, के अलावा, जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त जीवन की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का सर्वज्ञान जिसमें समाहित है, उस आयुर्वेद को 'पंचम वेद' की संज्ञा दी गई है-आयुर्वेद यानी आयु का शास्त्र।

"आयुर्वेद के अनुसार, पंच तत्वों के प्रभाव से यह शरीर वायु, पित्त, कफ, इन तीन प्रकृतियो मे विभाजित है। वायु एवं आकाश की प्रधानता से वातज, अग्नि की प्रधानता से पित्तज और पृथ्वी तथा जल की अधिकता से कफज प्रकृति बनती है। पाच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों को कार्यरत करने वाला ग्यारहवा मन भी सत्व, रज, तम इन प्रवृत्तियों मे विभाजित है। हमारी समस्त क्रियाए इन शारीरिक व मानसिक प्रकृति प्रवृत्ति के अनुरूप ही होती है और जब हम इन्द्रियो का हीन योग, मिथ्या योग या अति योग कर बैठते है तो विकारो की उत्पत्ति होती है। ऋतु चक्र के विपरीत चलने से भी ये विकार उत्पन्न होते हैं, मन मे कोई पाप विचार लाने से भी। सत्कर्मों के प्रभाव से ही व्यक्ति परम तत्व की प्राप्ति मे समर्थ होता है। शरीर उसका माध्यम है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चारो की प्राप्ति हमें शारीरिक आरोग्य द्वारा ही हो सकती हैं। अतः शरीर की रक्षा करना प्रथम धर्म माना गया है।

"आहार मे सात्विक, राजस, तामस का चुनाव भी आरोग्य की दृष्टि से ही निर्दिष्ट किया गया है। लेकिन यह चुनाव प्रायः इस दृष्टि से नहीं, अपनी प्रकृति या प्रवृत्ति के अनुसार ही किया जाता है। यह भी रोगों का एक मूल कारण है। स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में पंच महाभूत उसकी आयु शक्ति प्रकृति के अनुसार योग्य मात्रा मे रहते हैं तो पाचन क्रिया ठीक रहती है। पाचन क्रिया ठीक रहने से ही रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा शुक्र, इन सातों धातुओं का निर्माण ठीक होता है और मल मूत्र का निष्कासन भी ठीक प्रकार से होता है। ये शारीरिक क्रियाएं ठीक रहती हैं तो

इंद्रियां, मन, आत्मा सभी प्रसन्न, तृप्त रहते हैं और शरीर, मन दोनों दृष्टियों से स्वस्थ व्यक्ति ही तो स्वस्थ समाज की रचना करते हैं।

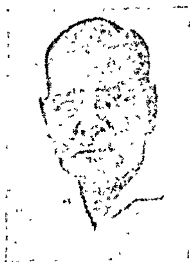
"इस तरह आयुर्वेद की रचना शारीरिक कामनाओं की पूर्ति एवं आत्मा के लिए ही नहीं की गई, उसमें प्राणीमात्र के कल्याण की भावना भी निहित है। यही आयुर्वेद की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि है।"

अन्त में मैंने उन्हें फिर कुरेदा, आपके ये सब विचार तो आपके लेखन से भी हमें मिलते रहते हैं, आप यह बताइए कि आपकी इस अक्षय ऊर्जा का स्रोत कहां है? एक साथ इतना सब कार्य आप कैसे कर लेते हैं? आपकी सफलता का रहस्य?" उनका सहज संक्षिप्त उत्तर था, 'निस्संदेह समय की सीमा है और समय आज बहुत महंगा है। पर समय के लिए समय का विभाजन या कार्य योजना का महत्व हो सकता है, कार्य का महत्व तो कार्य के प्रति समर्पण भाव से ही आंकना होगा। कार्य के प्रति समर्पण भाव बना लें तो ईश्वर स्वयं करा ले जाता है। यदि कहीं सफलता है तो सफलता का रहस्य भी यही समझ लीजिये। कार्य के प्रति आसक्ति या कार्य के अहंकार और कार्य के प्रति समर्पण के बीच के अन्तर को समझने पर ही यह बात समझ में आएगी।" छोटा-सा उत्तर लेकिन कितनी बड़ी बात!



भारत के प्रथम तारा-घर (प्लेनेटोरियम) के निर्माता

पंडित जगन्नाथ



एक अद्भुत कृति देखने को मिले और साथ ही उसके निर्माता के विलक्षण व्यक्तित्व से भी साबका पड़े तो इसे एक सुखद अनुभव ही कहा जाएगा। विश्वास नही होता कि भारत के उत्तर-पश्चिमी कोने पर स्थित अंबाला छावनी में एक ऐसी प्रतिभा छिपी बैठी है, जिसके बारे में अधिक से अधिक लोगों को जानना चाहिए। केवल जानना ही नही, उस केंद्रीभूत ज्ञान को बांटना भी चाहिए। कही ऐसा न हो कि पंडित भवानद की यह विरासत इतनी फलफूल कर भी काल के गर्भ मे खो जाए और यह देश उसके पुनर्मूल्यांकन की उपलब्धि से वंचित हो जाए।

अंतरिक्ष विज्ञान के प्रत्यक्ष व्यावहारिक अध्ययन के लिए सर्वप्रथम जर्मनी ने 1925 में करोड़ों की लागत से एक तारा-घर (प्लेनेटोरियम) का निर्माण किया था। अमेरिका में पहला तारा-घर 1954 में स्थापित हुआ, जिसे तीन विशाल औद्योगिक संस्थानों ने परस्पर सहयोग से समृद्ध यांत्रिकी तकनीक और करोड़ों डालर खर्च करके तैयार किया था। भारत में कलकत्ता स्थित बिड़ला तारा-घर 1962 में विदेश से मंगाकर लगाया गया है। अब तो नई दिल्ली के तीनमूर्ति स्थित नेहरू संग्रहालय मे भी 'तारा-घर' स्थापित कर दिया गया है। इस पृष्ठभूमि मे 1957 मे अंबाला स्थित इस छोटे, किंतु प्रथम तारा-घर 'चित्रा' का महत्व सहज ही आका जा सकता है, जो अकेले साधनहीन व्यक्ति के धैर्य व परिश्रम का परिणाम है।

पंडित जगन्नाथ द्वारा निर्मित यह तारा-घर विश्व का दूसरा और भारत का 'पहला' है। पर इससे अधिक उल्लेखनीय इसलिए है कि यह स्वाध्याय द्वारा स्वानुभूत चिंतन व तकनीक का परिणाम है और स्वनिर्मित है। साथ ही भारतीय शास्त्रीय व्याख्याओं, राशियों, ज्योतिर्विज्ञान व ज्योतिषज्ञान को न केवल विज्ञानसम्मत ठहराने, वल्कि सारे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का उद्गम स्रोत सिद्ध करने का भी प्रयास है। पंडित जगन्नाथ के पास विज्ञान के हर प्रश्न का भारतीय शास्त्रों पर आधारित उत्तर है। उत्तर ही नहीं, अकाट्य तर्क भी। उन्हें तलाश रहती है, देशी, विदेशी वैज्ञानिकों और विद्वानों की, जो उनकी बात सुनें और उनसे इन विषयों पर शास्त्रार्थ (वाद-विवाद) करना चाहें तो करें। धाराप्रवाह सभापण में वे एक साथ इतना बताते जाते हैं कि सामने वाला अभिभूत होकर रह जाता है।

उनके अनुसार, 'खगोल विज्ञान आज अंतरिक्ष युग में एक अत्यंत आवश्यक विषय है। जो देश इस विद्या को नहीं अपनाएगा, वह पिछड़ जाएगा आज कुछ राष्ट्र जहां पहुँचने में समर्थ हैं, हमें उस आकाश का ज्ञान तक नहीं है, जबकि हमारा दावा है कि यह विद्या हमारी है। विज्ञान का ऐसा कोई सिद्धान्त शेष नहीं रह जाता, जिसका वर्णन भारतीय ग्रंथों में न हो। पुराणों में यह सामग्री अधिक संकलित है। पर पौराणिक भाषा प्रतीकात्मक होने (जैसे सूर्य की कई पत्नियां, सौ बेटे आदि) से जनसाधारण को उनके गूढ़ अर्थ को समझ पाना कठिन है। इसलिए लोग इसे मिथ्या कहकर सतोष कर लिया करते हैं। भारतीय संस्कृति में संस्कृत भाषा का विशेष योगदान है। इस भाषा का प्रत्येक शब्द यथा नाम तथा गुण से विभूषित है। शास्त्रों के रहस्य ये शब्द ही अपने वास्तविक अर्थों द्वारा खोल सकते हैं।

पंडित जगन्नाथ की मान्यता है कि अन्य भाषाओं की भांति अंग्रेजी भी हिंदी संस्कृत का ही अपभ्रंश है और विज्ञान के जो रहस्य पश्चिम ने बहुत बाद में खोले हैं, उन सबके बारे में हमारे पूर्वज परिचित थे। इसके प्रमाण में वे पुराणों से, वेदों से व अन्य भारतीय ग्रंथों से एक के बाद एक अनेकों उक्तियां सुनाते चले जाते हैं, जिसके लिए अलग से लिखा जाना चाहिए। भाषा-प्रमाणों संबंधी उनकी एक पुस्तिका से ये कुछ तुलनात्मक शब्द पाठकों के लिए दिलचस्प रहेंगे। मरण-मोर्त, सनकी-सिनिक, अन्तर प्रगट इन्टरप्रेंट, अन्तरेप्ट-इन्टरेस्ट, पराबलम्-प्रॉबलम, पुरागम-प्रोग्राम, वाहिकल-वेहिकल, आत्मबलीवाहन ऑटोमोबाइल वैन, सूझ-सर्च, मनुष्यपाल-म्युनिसिपल

गुर्णाल कार्य-सोशल वर्क, प्रयोजन-प्रोविजन, परिवर्तित-परवर्टिड, वीरान-बैग्न, जोड़-ज्वाइंट, [illegible], क्रूर-क्रूअल, शोक-शॉक, तनाव-टेन्शन, दमन-डोमिनेट, वामन-वेमिन, पात्र-पॉट आदि।

वेदों, शास्त्रों, खगोल विज्ञान आदि ज्योतिष के पंडित एवम् व्यवसाय से तकनीशियन पंडित जगन्नाथ भारद्वाज ने विज्ञान की न तो कोई औपचारिक शिक्षा प्राप्त की है, न कोई उपाधि ली है। अंतरिक्ष में ग्रहों, नक्षत्रों व राशियों की सही-सही स्थिति बताने वाले उनके 'प्लेनेटोरियम' के निर्माण के पीछे उनके भारतीय व पाश्चात्य ज्योतिष विज्ञान और अभियांत्रिकी के 25 वर्षों के गहन अध्ययन, विलक्षण प्रयोगों और अथक परिश्रम की लम्बी कहानी है, और है वह प्रेरणा जो उन्हें अपने गुरु पंडित भवानंद व पंडित मदनमोहन मालवीय से मिली थी और जो उनके लिए चुनौती बन गई थी। उनके अनुसार, 'यह विद्या पहले पंडित भवानंद के पास ही थी व अब उनके बाद केवल मेरे पास ही रह गई है। यह भी यदि वह मुझे न सिखाते तो अपने साथ ही ले जाते। उनका स्वप्न था, काशी में ऐसी एक वेधशाला स्थापित करने का, जो उनकी मृत्यु के कारण पूरा न हो सका। बाद में मालवीय जी की प्रेरणा से यह कार्य मेरे द्वारा सम्पन्न हो सका।'

इस अद्भुत व्यक्ति की कहानी संक्षेप में इस प्रकार है :

जन्म 1912 में अंबाला में ही। दो वर्ष की आयु में पिता का देहांत। दोनों भाइयों को मां ने कठिनाई में पाला-पोसा। 1931 में इंटर परीक्षा के बाद एक कारखाने में क्लर्की। सात वर्ष नौकरी के बाद केवल पांच सौ की पूंजी से अपनी छोटी-सी कर्मशाला (वर्कशाप) खोलकर यंत्रों का निर्माण शुरू किया। आज यही वैज्ञानिक यंत्रों की एक फैक्टरी के रूप में विकसित है। और पंडित जी के दोनों बेटे इस 'मोहन ब्रदर्स' का सारा कामकाज संभालते हैं।

सन् 1935। ज्योतिष शास्त्र के प्रकांड पंडित भवानंद जी उनके पास आए व ज्योतिष संबंधी एक यंत्र के निर्माण की बात उनके सामने रखी। पंडित जगन्नाथ तब एक साधारण मिस्त्री थे। ज्योतिष संबंधी यंत्र कैसे समझते ? पर जिज्ञासा व लगन आदमी को कहां से कहां पहुंचा देती है। दोनों ओर धुन थी, सीखने की भी, सिखाने की भी। बस अध्ययन क्रम शुरू हो गया। पहले जन्मपत्री आदि बनाना सीखा। फिर आकाश के नक्षत्रों, ग्रहों, राशियों का अध्ययन चलने लगा। यंत्र-निर्माण को इन्होंने चुनौती के

रूप में लिया। ऋग्वेद, अथर्ववेद से लेकर सूर्य सिद्धान्त तक का अवगाहन। सारी-सारी रात खुले मैदानों में जागकर अंतरिक्ष निरीक्षण और फिर कपड़े की बड़ी-बड़ी चादरों पर उनका अंकन होने लगा। दुसाध्य था ऐसे यंत्रों का निर्माण, जो ग्रहों की परस्पर स्थिति, दूरी और गति का सही-सही प्रमाण में विशुद्धता से प्रक्षेपण कर सकें : उन्होंने यांत्रिकी का अपना अध्ययन भी बढ़ा दिया।

सामने न कोई चित्र था, न नमूना, न सहायता, न मार्गदर्शन, न ही जर्मनी वाले संसार के प्रथम 'प्लेनेटोरियम' की कोई जानकारी। बस असाधारण प्रतिभा थी, असीम लगन थी। खगोल का शास्त्रीय ज्ञान था और था यांत्रिक अनुभव। छोटी सी वर्कशाप में वर्षों तक प्रयोग चलते रहे। अंत में सफलता हाथ लगनी ही थी, लगी। तारा घर (प्लेनेटोरियम) विद्वानों को दिखाने के बाद 1957 में सार्वजनिक प्रदर्शन के लिए खोल दिया गया। अब तो पंडित जगन्नाथ के बनाए ऐसे तार घर गोहाटी, कोहिमा, भावनगर अहमदाबाद, राजकोट व हैदराबाद में भी स्थापित किये जा चुके हैं। एक अनुमान के अनुसार, अंबाला स्थित 'चित्रा' नक्षत्र मंडल को अब तक 24 हजार आदमी देख चुके हैं। दर्शकों में डा. राधाकृष्णन, पंडित जवाहर लाल नेहरू, श्री लालबहादुर शास्त्री जैसे नाम भी हैं। अनेक विदेशी व भारतीय वैज्ञानिक भी भारतीय ज्योतिर्विज्ञान और अभियांत्रिकी की इस अद्भुत कृति को देखने आते रहते हैं।

यह यंत्र अर्धवर्तुल छत वाले एक गोल कमरे में स्थापित किया गया है। मेज पर लगे एक खोखले गेंद में राशियों व नक्षत्रों की वास्तविक स्थिति और अन्तर के अनुपात से छिद्र बने हैं। गेंद के भीतर प्रकाश की व्यवस्था है व एक बिजली की मोटर से इसे घुमाया जाता है। इसकी धुरी भी किसी देश के अक्षांश पर अभिष्ट कोण से झुकाई जा सकती है। दर्शक कमरे में चारों तरफ बैठ जाते हैं। कमरे में पूर्ण अंधेरा कर दिया जाता है और गुंबज की छत पर घूमते हुए तारों व ग्रहों सहित अंतरिक्ष का वास्तविक दृश्य उपस्थित हो जाता है। एक प्रकाश-संकेतक द्वारा निर्देशक विभिन्न ग्रहों व तारों की स्थिति समझाते चलते हैं। अब इस व्यवस्था को टेपरिकार्डर द्वारा स्वचालित बनाने पर भी विचार किया जा रहा है।

पंडित भवानन्द से आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर, स्वयं के प्रयोगों द्वारा पंडित जगन्नाथ ने उनके लिए पांच-सात यंत्रों का निर्माण कर दिया था।

थे,इन यंत्रों को लेकर काशी में वेधशाला बनाना चाहते थे। पर 1947 में हृदय-गति रुक जाने से उनका यह स्वप्न पूरा न हो सका था। वह पंडित मदन मोहन मालवीय के मित्र थे। मालवीयजी की इच्छा थी, प्राचीन भारतीय ज्योतिर्विज्ञान को वह इस प्रकार विश्व के समक्ष रखें। बाद मे यह कार्य पंडित जगन्नाथ द्वारा अंबाला में सम्पन्न हुआ। पर शिष्य गुरू से भी आगे निकल गए। इस विद्या की तरफ जो उनका झुकाव हुआ तो अध्ययन द्वारा दिनोंदिन बढ़ता ही गया। आज वह विज्ञान की हर बात का उत्तर प्राचीन शास्त्रों व ज्योतिष विज्ञान के आधार पर देने में सक्षम हैं।

उन्होंने यह भी इच्छा प्रकट की कि उन संस्कृत कालेजों में, जहाँ ज्योतिष पढ़ाया जाता है, एक परचा खगोल तथा भूगोल का भी अवश्य रखा जाए। इससे वर्तमान अंधकार छटेगा और हमारे ज्योतिष विज्ञान की हँसी नहीं उड़ाई जाएगी। नीम हकीमों के से उन नीम ज्योतिषियों को भी मार्ग से हटाया जा सकेगा, जो 'पृथ्वी अचला है' या 'वह चन्द्रमा ही नहीं है जिस पर मानव हो आया है' जैसी अवैज्ञानिक बातें कर ज्योतिष की महत्ता गिराते हैं।

उनकी दूसरी इच्छा है, देश के किसी मुख्य स्थल पर किसी ऐसे कालिज की स्थापना हो, जहां भारतीय ढंग से खगोल विज्ञान और ज्योतिष का अध्ययन हिन्दी माध्यम से कराया जाए। इन विषयों पर हमारे यहां सर्वाधिक सामग्री उपलब्ध है। इस कालेज मे विद्याध्ययन हेतु विदेशी भी काफी सख्या में आएंगे।

पंडित जगन्नाथ ने 'भारतीय खगोल विज्ञान' शीर्षक एक सचित्र पुस्तक भी तैयार की है, जो अभी प्रकाशित नहीं हो पायी है।

पंडित भवानन्द चले गये, पर कम से कम एक भवानन्द और पैदा कर गए। अब यह भवानन्द अपने साथ इस प्रचुर अर्जित ज्ञान को लेकर न चला जाए, यह प्रयत्न होना चाहिए। अभी ऐसी कोई आशंका उपस्थित नही है। भगवान की दया से पडित जगन्नाथ जी का स्वास्थ्य अभी खूब अच्छा है। उनकी धाराप्रवाह वाणी भी खूब सशक्त है। जगह-जगह संस्थाओं मे बुलाकर चित्रो व चार्टों की सहायता से उनके 'लेक्चर्स' कराए जाते हैं। उनके भाषण भी रिकार्ड किये जाते हैं। इधर चुम्बक-चिकित्सा मे भी उनका नाम खूब चमका है। पर समय रहते यह ज्ञान हस्तातरित होना चाहिए—भारतीय संस्कृति के पुनर्मूल्यांकन के इस दौर मे यह और भी आवश्यक है।

△

